सामयिक प्रकाशन

समाज और इतिहास

नवीन श्रृंखला
18

स्त्री विमर्श का लोकपक्ष : स्त्री–भाषा की 'सविनय अवज्ञा'

डॉ. अनामिका

एसोशिएट प्रोफेसर
सत्यवती कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

नेहरू स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय
2019

नेहरू स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय

© अनामिका, 2019

सर्वाधिकार सुरक्षित। लेखक की अनुमति के बिना इस प्रकाशन के किसी भी अंश का दोबारा प्रयोग/पुनरोत्पादन किसी भी रूप में नहीं किया जा सकता। इसमें व्यक्त विचार, अर्थनिर्धारण तथा निष्कर्ष पूर्णतः लेखक के हैं और किसी भी तरह, पूर्णरूपेण अथवा अंशतः नेहरू स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय के विचारों को नहीं दर्शाते। यह शोध अग्रेतर संवाद के लिए प्रस्तुत है। शोध से सम्बंधित प्रत्येक प्रश्न का उत्तरदायी लेखक होगा। किसी भी सामाजिक और आपराधिक गतिविधि के लिए नेहरू स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय जिम्मेदार नहीं होगा।

प्रकाशक

नेहरू स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय
तीन मूर्ति भवन
नई दिल्ली–110011

ई.मेल : director.nmml@gov.in

ISBN : 978-93-84793-21-0

स्त्री विमर्श का लोकपक्ष : स्त्री–भाषा की 'सविनय अवज्ञा'*

प्राक्कथन:

यह तो हम सभी समझते ही हैं कि भूमण्डलीकरण के बाद का समाज दोहरी नागरिकता का समाज हो गया है–एक ही समय में हम इण्टरनेटबद्ध विश्व–नागरिक भी हैं और सामूहिक इयत्ताओं से बंधे अपने–अपने देश के नागरिक भी। विश्व नागरिक की क्षैतिज बंधुता (horizontal comaraderie) ठीक से तभी परवान चढ़ती है जब हम अपनी–अपनी स्थानीयताओं में अच्छी तरह रचे–बसे हों वरना हम वही बनकर रह जाते हैं जिसे टी.एस. एलियट ने पिछली सदी की शुरुआत में भुसभरे, खोखले लोग (hollow men, stuffed men) और अगरधत्त इतवारी चेहरे (satisfied Sunday faces) कहा था!

अगर हमें अलग और विशिष्ट होने का अधिकार नहीं होगा, हमारी समानता (equality) बिस्कुट के पैकेटों की समानता (uniformity) होकर रह जाएगी या गाड़ी के पार्ट–पुर्जों की समानता। इसी समझ के साथ दुनिया के तीन प्रमुख विमर्श–अश्वेत, आदिवासी और स्त्री विमर्श अपने–अपने लोक और उससे जुड़ी जातीय स्मृतियों से अंतःपाठीय सम्वाद साधने पर विशेष जोर देते हैं क्योंकि लोक और उससे जुड़ी स्मृतियां ही हैं जो उनको विशिष्ट पहचान दे सकते हैं!

कुछ लोग स्त्री–विमर्श पर पश्चिमी प्रभाव के अतिरेक का आरोप लगाते हैं पर उन्हें यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि 'कोलोनियल' और 'कैनोनिकल' (औपनिवेशिकता और प्रायोजित पाठ्यक्रम) दोनों पर शुरू के दिनों में ही स्त्रीवाद ने करारा प्रहार किया था। ज्ञान–प्रत्याख्यान के वैकल्पिक स्रोतों की तलाश पर इसका बल हमेशा से रहा है–क्षेत्रीय साहित्य और देशी परम्पराओं का संधान, मौखिक इतिहास–लेखन, रीति–रिवाज, मिथक–समीक्षा, तस्वीरें, घरेलू चिट्ठियां और अन्य अनादृत दस्तावेज–समेत अज्ञात पांडुलिपि–संधान और गलत तरजीह पा गये स्त्री–विरोधी पाठों पर लाल चिन्ह के निशान स्त्रीवादी आलोचना ने ही सम्भव किए।

---

*13 नवम्बर, 2017 को नेहरु स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय, तीन मूर्ति भवन, नई दिल्ली में दिए गए व्याख्यान का संशोधित संस्करण।

दृष्टि–प्रक्षालक अन्य पुनःपाठीय और अंतःपाठीय कार्रवाइयां भी स्त्रीवादी आलोचकों ने ही सम्भव कीं! अपने इन्हीं प्रयोगों और बहुलतावादी मैं (multiple I) की अपनी मूल अवधारणा के कारण यह उत्तर–सरंचनात्मक कहलाया! स्त्रीवाद शुरू से यह समझता आया है कि मनुष्य के अस्तित्व की सार्थकता प्राकृतिक संसाधनों से इसके सर्जनात्मक, अंतर्क्रियात्मक संवाद में है! इसलिए काम के मूलाधिकार से किसी को वंचित नहीं किया जा सकता, पर काम करते हुए जो अहंवादी, ठिंगना, लालची भोक्ता–भाव उमड़ता है और दूसरे पर हावी हो जाने का भाव–उसके नियोजन के उपाय भी होने ही चाहिए! परिवार, प्रेम, यौनिकता और नैतिकता की नई परिभाषाएं गढ़ते हुए इसके निराकरण के उपाय इसने सुझाए भी। इस संदर्भ में कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न जो स्त्रीवादी आलोचना ने पूछे, वे यह कि प्रेम और सद्भाव पति और बच्चों तक या यौन संबंधों और रक्तबद्ध सम्बन्धों तक ही सीमित क्यों? परिवार रिश्तेदारों तक ही सीमित क्यों? प्रजननात्मक लेबर भी 'लेबर' का मान नहीं पाए तो क्यों? मातृत्व तो एक जीवन–दृष्टि है, यह जैविक मातृत्व (biological motherhood) तक ही सीमित क्यों? क्योंकि वर्ग, वर्ण और नस्ल की दीवारें औरतों ने खड़ी नहीं कीं, उनके बहनापे की बेल मीरां के प्रेम–बेल की तरह सब चारदीवारियां लांघती हुई क्यों न मानी जाए?

चित्रों, भाषणों, लेखों, पत्रों, कथानकों और अर्द्ध–कथानकों के आधार पर एक मुकम्मल सिद्धांत जो उत्तर–औपनिवेशिक स्त्रीवाद ने तैयार किया है, वह अगर इक्लेक्टिक है भी तो इसमें बुरा क्या है? जीवन भी अपनी समग्रता में इक्लेक्टिक ही होता है! विधात्मक चारदीवारियों के पार मलंग भाव से इक्कट–दुक्कट खेलता स्त्रीवाद इक्लेक्टिक, अंतर्विधात्मक और अंतरविद्याशास्त्रीय तो होगा ही! जिसने गरीब–अमीर, ऊंच–नीच, पूरब–पश्चिम, हिंदू–मुस्लिम का पदानुक्रम तोड़ कर उन्हें एक चटाई पर बिठाने का संकल्प लिया, उसके तेवर कबीराना/फकीराना तो होंगे ही! 'सारि–सारि को गाहि लियो, थोथा देहि उड़ाय' वाली घरेलू सूक्तियों से यह अपना मॉडल लेगा ही! और वह यह भी मानेगा कि लोकपक्ष जरूरी है, पर परम्परा रूढ़ियों के कंकड़ समेत तो अपनायी नहीं जा सकती! परम्परा से रूढ़ियां तो फटकनी ही होंगी! परम्परा के संदर्भ में 'ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया' का रूपक नहीं चलेगा, इसलिए हमें एक इक्लेक्टिक–सी पैचवर्क वाली कथरी सिलनी ही होगी!

न अंधानुसरण, न सर्वोच्छेदन–नए और पुराने का विवेकपूर्ण संयोजन–यह प्रमेय ध्यान में रखते हुए इसने तीन महत्वपूर्ण काम किए जिसका आधार प्रमेय थी बुद्ध की सम्यक दृष्टि, उसी बुद्ध की सम्यक दृष्टि जिन्होंने स्पष्ट कहा था–अन्तर हि अत्तनानाथो कोहि नाथे परोलिया

अन्तनाव सुदन्तेन नार्थ लयति सुल्लभं (मनुष्य स्वं अपना स्वामी है, उसका दूसरा कोई स्वामी नहीं। जो स्वयं पर स्वामित्व करता है, दुर्लभ स्वामित्व को प्राप्त होता है।)

इस प्रमेय से उदभूत

तीन प्रस्थान–बिंदु इसके थे–

(i) स्त्री–लेंस से देश–दुनिया और स्वयं स्त्री के देह–मन और भाषा की समझ का विकास।

(ii) विकास के सम्यक मॉडल की तलाश जहां कोई किसी पर हावी न हो, न प्रकृति का दोहन हो, न मनुष्य का! अवसर सबको बराबर मिलें, और सबमें अंतर्निहित सम्भावनाएं और सद्भावनाएं मुकुलित हों।

(iii) करुणा–सम्बलित न्यायदृष्टि का पल्लवन यानी युद्ध और दंगा, घरेलू और बाहरी आतंकधर्मिता, विविधवर्णी हिंसा और असंतुलन धीरे–धीरे जनजीवन और व्यक्तिगत जीवन से तिरोहित हो जाए।

इन तीनों प्रस्थान बिंदुओं के आलोक में स्त्री–आलोचना ने जो कुछ महत्वपूर्ण प्रयाण सम्भव किए हैं, उनमें से कुछ की चर्चा करते हुए हम कुछ अन्य सम्भावित क्षेत्रों की ओर इशारा करेंगे जिसमें काम हुआ तो इसका लोकपक्ष और अधिक विकसित होगा। उदाहरण के रूप में स्त्री भक्त कवयित्रियों की चर्चा होगी, विशेषकर मीरां की!

अंतःपाठ और पुनःपाठ : उपलब्धियां और संकल्प

(i) **रचनात्मक संवाद :** इस संदर्भ में पहला काम जो स्त्री आलोचना ने संभव किया है, वह है स्त्री–लेंस से भाषा की मानक रचनाओं, रीति–रिवाजों और स्थापनाओं का पुनःपाठ जिससे स्त्री–सम्बन्धी पूर्वग्रह (स्टीरियोटाइप) उजागर हो सकें यानी कि उसका

(अ) विद्रूपण

(ब) विलोपन

(स) अवमूल्यन

क्या हैं वे उम्मीदें जो हर स्त्री से की जाती हैं–कम खाओ, कम पीयो, गुड़िया–जैसी दिखो और चाभी वाली गुड़िया जैसा व्यवहार भी करो। भौतिक संसाधनों और अवसरों से वंचित रहो और सद्गुणों को ही स्त्रीधन समझकर सन्तोष करो–सहिष्णुता, धीरज, दया, ममता आदि सद्गुणों की साझेदारी पुरुष न करेंगे, सद्गुणों पर तुम्हारा एकाधिकार होगा और बाहरी अवसरों पर पुरूषों का ! स्त्रियाँ पहले तन–मन से घर की सेवा करती थीं और अब तन–मन–धन से

घर–बाहर दोनों देखो, और 'गेट आउट', 'शट–अप' आदि का मंत्राभिषेक और देह–दोहन के हजार कुचक्र झेलती हुई भी चुपचाप सबकी सेवा में जुटी रहो! दूधो तब नहाओ जब पूतो फलो, बेटी जनो तो चुल्लू भर पानी में डूब मरो और उसे भी नमक चटाकर तुरत मारो या तिल–तिल गलाकर हम मार देंगे... वगैरह! इस आशय का एक उदाहरण तैत्तरीय संहिता से दिया जा सकता है जहां पिता को पितृसत्ता निर्देश देती है कि पुत्र जन्मे तो आनन्दातिरेक से उठाना, पुत्री जन्मे तो माता के पास लेटी रहने देना (शायद यह सोचते हुए कि आगे इस बला का करना क्या है)

पूमांस पुत्रं जनयंत पुमतनु जायताम
भवसि पुत्रणां माता जातानाख्य यान[1]

इस तरह की बातों की खिल्ली उड़ाना स्त्रीवाद सिखाता है और मजे की बात यह है कई बार लोकगीतों में व्यवहृत *मिमिक्री, पास्तीज, इन्टरपेलेशन* आदि मजाकिया तकनीकों से स्त्री विरोधी शास्त्रों की खिल्ली उड़ायी गयी है! उस पर पलटवार किया गया है और अगर शास्त्रों में या रिवाजों में कुछ ऐसा है जो बचाने–लायक है तो उसे बचाते हुए, उसका प्रत्यारोपण नई जमीन पर कर लिया गया है या स्त्री–दृष्टि से पुरानी कथा का पुनर्गायन या पुनर्लेखन भी कर लिया गया है।

उदाहरण के लिए देखें तेलुगु लेखिका, वोल्गा की कृति 'विमुक्त' जिसमें उन्होंने जंगल–प्रवास के दौरान सीता का अलग ही रूप प्रस्तुत किया है! सारे कामकाज निबटाकर सीता परशुराम की मां रेणुका, अहिल्या, उर्मिला और शबरी आदि स्त्री–किरदारों की देहली जाकर बैठती हैं और उनके मुख से उनकी कथा सुनती ही नहीं, उस पर अपनी सजग टिप्पणी भी देती हैं, जो बहनापे के रस में डूबी हुई है! वापस लौटती हुई सीता उनसे उपदेश भी लेना नहीं भूलतीं![2]

तमिल और अंगरेज़ी की प्रसिद्ध लेखिका और स्त्री लेखन संग्रहालय *'स्पैरो'* की कर्ता–धर्ता अम्बई ने भी तमिल और आदिवासी राम कथाओं के कई सजग स्त्री–पाठ तैयार किए हैं, और उन्होंने तो पशु–पक्ष से कई स्त्रीवादी फेबल भी लिखे हैं जैसे *'द डियर ऐण्ड द फॉरेस्ट'* नाम की इनकी कृति स्त्री की पर्यावरण–सजगता का भी बड़ा उदाहरण है।[3]

उड़िया की जानी–मानी लेखिका प्रतिभा राय ने *'याज्ञसेनी'* नाम के अपने सिद्ध उपन्यास में द्रौपदी का कथा–पक्ष रखा है और पांच पतियों के बीच जीने का असमंजस भी। पांचों में कोई उसका सखा नहीं बन पाता, सखा कृष्ण ही बनते हैं जिनसे मन की बातें कही जा सकती हैं–पितृसत्तात्मक दाम्पत्य की यह बड़ी विडम्बना यहां बखूबी उकेरी गयी है।

हिंदी कविता में द्रौपदी के जीवन का यह विडम्बनात्मक पक्ष सुमन केसरी ने बांकपन से उजागर किया है![4] मिथकीय और ऐतिहासिक स्त्री–पात्रों से अंतःपाठीय संवाद के कई उदाहरण अनामिका की कविताओं में भी मिल जाएंगे, विशेषकर 'टोकरी में दिगन्त : थेरीगाथा : 1914' में।[5]

(ii) आलोचनात्मक विग्रह : इस क्षेत्र में दूसरा बड़ा काम हुआ है स्त्री–केन्द्रित अनुभूतियों के आलोक में मिथकीय चरित्रों की नयी विमर्शात्मक व्याख्या, दस महाविद्याओं और मातृशक्तियों का तेजस्वी विश्लेषण, ग्रामीण और पहाड़ी देवियों से जुड़े लोकाख्यानों का नया भाष्य। इस क्षेत्र के प्रमुख नाम हैं–मृणाल पाण्डे, नमिता गोखले, नीता गुप्ता, मालाश्री लाल, लवली गोस्वामी आदि।

(iii) सम्पादन/अनुवाद/भाष्य : दुर्लभ स्त्रीवादी या स्त्रीचेतना–सम्यक पाठों का अन्वेषण–संचयन–विश्लेषण भारतीय भाषाओं के संदर्भ में इतना बड़ा काम है जिसमें हमारी कुछ प्रखर स्त्रीवादी चिंतकों ने बड़ी भूमिका निभायी है। कुमकुम संगारी, रूथ वनिता, मधु किश्वर, अरुंधती सुब्रमण्डयम और अलका त्यागी ने भक्त कवयित्रियों की बड़ी भूमिकाएं लिखीं और उनके अनुवाद भी सम्भव किए! रूथ ने उर्दू की बेगमाती जबान में लिखी रचनाओं का भी सम्यक भाष्य किया! ऋतु मेनन, उर्वशी बटालिया, जसवीर जैन, पुष्पा भावे, माधवी शुक्ला, ममता कालिया, रोहिणी अग्रवाल, सुधा सिंह, गरिमा श्रीवास्तव आदि ने पुनर्जागरण काल से लेकर अब तक की दुर्लभ रचनाएं विद्वत्तापूर्ण भूमिकाओं के साथ उपलब्ध करायीं।

इस संदर्भ में मलयालम की विदुषी वनजा का कृत्य भी महत्वपूर्ण है–प्रकृति से स्त्री के बहुविध सम्बन्धों का आकलन करती रचनाएं, वे संकलित भी कर सकें तो 'इको फेमिनिज्म' वाला उनका काम और व्यापक आयाम पा जाएगा!

कुछ और सम्भाव्य क्षेत्र

इस क्रम में जो कुछ और सम्भाव्य क्षेत्र हैं, बहुत दिनों से मेरी इच्छा उस दिशा में काम करने की थी, और मेरी अगली पुस्तक निम्नांकित शीर्षकों के अधीन उसी ओर बढ़ना चाहती है–

(1) 'स्वाधीनता आंदोलन' और 'विभाजन' के दौरान उभरे हिंदी–उर्दू स्त्री–लेखन में 'देश' की अवधारणा : 'विद्याविनोदिनी' और 'फाजिल'/'जामिल' की परीक्षा–पास दादी–नानियों का नया 'लोक'

(क) 1854 के एडुकेशन डिस्पैच से 1882 के हण्टर कमीशन रपट तक स्त्री–शिक्षा के खिलाफ छपे कार्टून

(ख) बिहार–बंगाल की चौपाठियों में भाइयों और पिताओं का पंखा डुलाती और उन्हें शिकंजी पिलाती लड़कियों में 'विद्या चोरी' का साक्ष्य : उस समय के लोकगीत

(ग) जरनलों/ग्रामोफोन–कैलेण्डर आर्टस, बायस्कोप और फिल्मों से खुलता संसार

(2) पूरे मुहल्ले की स्त्रियों की गोद में पलकर बड़ा हुआ पारम्परिक पुरुष और क्रेच का नवल पुरुष : पुरुषार्थ–विमर्श के आइने में पिछले 70 साल

(3) नायक–नायिका भेद के प्रत्यावर्तन : धीरोदात्त दलित और दलित पद्मिनी तक की अंतर्यात्राएं। प्रौढ़ा प्रगल्भा और दूतिकाओं का नया स्त्रीवादी पाठ

(4) लोकाख्यानों और लोकगीतों का स्त्रीवादी पाठ

(5) भारतीय देवियों और मातृशक्तियों से अंतःपाठीय संवाद

(6) स्त्री लेखन और स्त्री भाषा की लोकाभिमुख तकनीकें : बहुकेन्द्रीयता और पदानुक्रम भंग :

(क) कथा भंग–फिक्शन–नॉन फिक्शन के बीच की विषम आवाजाही; पैराफ्रेज कैटलॉगिंग, पास्तीज और अंतःपाठीय सम्वाद!

(ख) लयभंग–आत्म परावर्तन, पैरोडो पॉटमेण्टयू (मिश्र शब्द) पुनरावृत्ति, सिमियोटिक तरंगों की उछाल!

(ग) *फोकलशिफ्ट–टेलिस्कोपन, बायोमाइथोग्राफी, विस्मयादिबोधक अनुगूंजें, सिनेस्थेसिया,* डिस्कॉर्डिया कॉनकार्स!

इसी पुस्तक के परिशिष्ट के रूप में मैंने भारत की स्त्रीभक्त कवियों के कुछ अनुवाद और उनसे कुछ अंतः पाठीय गपशप की सोची है और आगे उसी पर थोड़ी बातचीत करूंगी!

दोस्त–ईश्वर से परिहास : स्त्री भक्त–कवियों का 'लोक'

''What might nowadays be voguishly called getting in touch with the woman whithin himself turns out to mean getting in touch with the mass-murderer.''[6]

("इन दिनों आभ्यांतर में बसे स्त्री–तत्व के अवगाहन की बात बहुत होने लगी है, पर कोमल भावनाओं के नाम पर होने वाली इस तरह की (आध्यात्मिक और सुप्रारैशनल) यात्रा अक्सर हमें कट्टर फसादियों तक ही ले जाती है!")

(टेरी इगलटन, होली टेरर, ओयूपी, 2005)

आध्यात्मिक और सुप्रारेशनल अंतर्यात्राओं पर एक बड़ा प्रश्न चिन्ह लगाते हुए बहुतेरे युद्ध और दंगे, धर्म के नामपर हुए तमाम अतिवादी फसाद आज हमारे सामने खड़े हैं, इस समय भक्ति कविता की सैद्धांतिकी गढ़ना आसान नहीं! भेद–भाव की जितनी संरचनाएं धर्म ने खड़ी की हैं, उनमें सबसे ज्यादा शोषण स्त्रियों का ही हुआ है, पर यह भी सच है कि 'रैशनल' के ऊपर जो 'सुप्रारैशनल', ज्ञान के ऊपर संज्ञान का यूटोपिया सदियों के उपक्रम से गढ़ा गया है–उसकी सर्वाधिक तत्पर नागरिक स्त्रियां ही रही हैं : 'हारे को हरि नाम' के इस तर्क से हो कि

'हमको मालूम है जन्नत की हकीकत फिर भी
दिल को खुश रखने का गालिब ये खयाल अच्छा है!'

'वो सुबह कभी तो आएगी' की उम्मीद में लगातार वर्तमान का स्थगन और अतीत की लीपापोती स्त्री–जीवन का एक विकट सच अब तक है तो मध्ययुग में भला क्यों न रहा होगा जहां की ये भक्त कवयित्रियां हैं पर उन तक और उनके काल तक आने के पहले थोड़ी–सी बातचीत हम आज के इस जमाने में भक्ति–काव्य के औचित्य और भक्ति–काव्य की सैद्धांतिकी पर कर लें।

स्त्री का निजी स्पेस

इतना हम सभी जानते हैं कि स्त्रीवाद का पहला चरण सांसदीय, वैधानिक, राजनीतिक और संस्थागत परिवर्तनों की गुहार लगाता हुआ मोटे तौर पर उन्नीसवीं शताब्दी के 'लिबरल ह्यमनिस्ट' (उदारतावादी) फ्रेमवर्क में काम करता रहा और इसका मुख्य सरोकार था 'इतिहास' में स्त्री की जगह तलाशना!

दूसरे चरण पर मार्क्स से ज्यादा फ्रायड और लकां, इरेगिरी, सिक्सू, क्रिस्तेवा और शॉदरॉव आदि मनोभाषिकों की छाया थी और रैखिक प्रगति रेखांकित करने से ज्यादा यहाँ जोर था स्त्री का अपना निजी स्पेस और समृद्ध अंतरंग उभारने पर; प्रकृति, परिवेश और बृहत्तर विश्व से उसका आत्मन क्या आध्यात्मिक सम्बन्ध बनाता है, इस पर या उसके अपने अनुभूति मण्डल पर।

स्त्री भक्ति कविता की अपनी सामाजिकी भी है और मनोगतिकी भी! एक खास तरह की टांसपर्सनैलिटी सारी भक्तकवि रही हैं, पर अपने 'लोक' से इनका नाता कितना गहरा है–इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हैं इनके रूपक और बिम्ब, लोकभाषा के बांके ताल–छंद पर इनकी अद्‌भुत पकड़ जिसकी बात हम आगे करेंगे!

धार्मिक प्रपंच : भारतीय मध्यवर्ग और धर्मसंकट

जैसा कि पहले कहा–भारत में अक्सर कहते हैं : 'हारे को हरि नाम'। और जीत की खुशी में इतराए हुए को, उसको तो अपने नाम के आगे कुछ और नहीं सूझता! या तो अपना नाम या फिर अपने पथ–प्रदर्शक का! तैंतीस करोड़ देवी–देवताओं के इस देश में देवी–देवताओं की आबादी लगातार बढ़ ही रही है। सबसे नया देवता अब बाजार देवता है! मार्क्स, गांधी, सार्त्र, अम्बेडकर का भी भक्ति–संप्रदाय कुछ कम बड़ा नहीं है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' पढ़ते हुए आपको नाथों–सिद्धों–बौद्धों और जैनियों का तंत्र–पक्ष और जनतंत्र–पक्ष–दोनों जिस गहमा–गहमी में एक–दूसरे से उलझते नजर आते हैं, प्रायः वैसी ही गहमा–गहमी हमें आज भी फिजां में हर ओर घुली दिखती है। क्या है इस गहमा–गहमी के मूल में? श्रेष्ठता–ग्रंथि! पथ अगर श्रेष्ठ है तो मेरा! व्यक्ति यदि श्रेष्ठ हूं तो मैं! जीने के लिए 'हम किसी से कम नहीं' वाली अलमस्ती जरूरी भी है लेकिन 'जो है, केवल हम हैं'–यह शुद्ध प्रमाद 'हारे को हरि नाम' से ज्यादा गया–बीता है।

अति पुरूष (हाइपर मेन, मायो मेन) इसी प्रमाद का शिकार हैं और स्त्रियां हैं 'हारे को हरि नाम' की सजल व्याख्या, मगर दुनिया जिस तेज, जिस ऊर्जा, जिस शक्ति से अनुप्राणित–स्पंदित–उत्प्रेरित है–वह शक्ति–पुंज भी स्त्रियों के ही भीतर है; उनके बिना दुनिया के सब चर–अचर (और शिव भी) शव है–परंपरा कहीं–न–कहीं इस तथ्य पर भी तो उंगली रखती है।

'नेक लड़की सिंड्रोम' या 'बेचारी, दुख की मारी' वाली आत्मदया की शिकार स्त्रियों के सामने भारतीय देवियों की निर्मिति पर विचार कर लेना एकदम जरूरी हो जाता है। पर इस संदर्भ में यह भी समझ लेना जरूरी है कि धर्म कोई निष्पाप, भोली–भाली 'कैटेगरी' तो है नहीं। संस्थायन हमेशा दिक्कततलब होता है–वह चाहे विवाह के रूप में प्रेम का संस्थायन हो या धर्म के रूप में अध्यात्म का। और जो धर्म जितना पुराना हो–उसके साथ पाठ–कुपाठ की, व्याख्या–कुव्याख्या की उतनी ही लंबी और आत्म–विरोधी परम्पराएं (हर्मेन्यूटिक्स) कतरब्योंतनिपुण चूहों की तरह पीछे लग लेती हैं। धर्म कुछ हद तक तो एक अफीम, एक सम्मोहन, एक बांसुरीवाला है ही। तो कई बार उसकी बांसुरी कृष्ण की बांसुरी होती है–कंस के त्रास से उकताए ग्वालों को कला–संगीत, प्रेम–लालित्य की स्वयंसमर्थ यूटोपिया, एक वैकल्पिक स्पेस में लिये जाने वाली। कई बार वह 'ऑरफियसस' का 'लायर' होती है–मृत्यु आदि प्राकृतिक आपदाओं के पार का एक दृश्य–वितान रचकर शोकसंतप्त आत्मा को कुछ तोस–भरोस थमाने वाली, एक अलग तरह के काल्पनिक संधान में उसे व्यस्त कर देने वाली।

पर कभी–कभी वह लोककथा के बांसुरीवाला की बांसुरी बनकर उन चूहों को भी गण–मुनि की तरह साथ समेटे चलती है जो अंततः उसकी ही जान खा जाते हैं–स्त्री–विरोधी, दलित–विरोधी व्याख्याएं और निर्मितियां सामने उकेरकर, दूसरे धर्म/मत/लिंग/वर्ण/नस्ल आदि के खिलाफ वैमनस्य का प्रचार करके, गरीब और दुखी आदमी में एक खास तरह की कुंठा रचके कि उसने कभी कुछ कर्म ही ऐसे किए होंगे जो उसको इस जन्म में ऐसा जीवन मिला।

धर्म का सबसे बड़ा कुपाठ तो उसके कर्म–सिद्धांत की व्याख्या है। मार्क्स ने हीगेल से जो मुख्य असहमति व्यक्त की थी, वह इस पर थी कि दैववाद (प्री–डेस्टिनेशन का सिद्धांत) एक खास तरह की अकर्मण्यता पैदा करता है, इसलिए यह यथास्थितिवादी और मानवताविरोधी है :

'the rich man in his castle
the poor man at his gate,
all creatures great and small
that good God made them all'

हमारे स्कूल की एक प्रार्थना यह भी थी। इसमें जो पूरा चित्र खड़ा होता है–उसमें चुनौती कहीं भी नहीं है। यह पदानुक्रम भगवान का बनाया हुआ है और भगवान इसी में खुश हैं कि धनी आदमी किले में रहे, गरीब आदमी फाटक पर, कभी अच्छे घर की सोचे भी नहीं, उसी तरह सिर झुकाकर फाटक पर खड़ा रहे। स्कूल की सामूहिक प्रार्थना में इस तरह का यथास्थितिवाद पिरोया गया था जो अब हमें खटकता है, मगर उस समय इस पर ध्यान भी नहीं जाता था कि हमें घुट्टी में क्या पिलाया जा रहा है

थोड़े बड़े हुए तो 'बिधि के बनाए जीव जेते हैं जहां के तहां/खेलत–फिरत, उन्हें खेलन–फिरन देव' का दर्शन सामने आया कि भाई, चुप बैठे कुदरत का करिश्मा सराहो! प्रश्न न पूछो। कोई चुनौती न दो। किसी को छेड़ो मत–जो जहां है, कायम रहने दो। संरचना बदलने की जरूरत नहीं है। जगत तपोवन हो–'अहि–मयूर, मृग–बाघ, मिल–जुलकर रहें–आदर्श स्थिति तो यही है, पर आदर्श निभता है क्या? 'दीरथ दाघ निदाघ' का आपातकाल इन्हें स्तब्ध करके एक पेड़ की छाया में सुस्ताने को विवश कर भी दे, मगर सहज होते ही मयूर सांप को, बाघ हिरण को खा जाएगा।

'छोटी मछली बड़ी को खा जाती है', 'जिसकी लाठी, उसकी भैंस', 'माइट इज राइट' आदि कहावतें सामाजिक डार्विनिज्म का जीता–जागता लौकिक भाष्य हैं। डार्विन ने 'सर्वाइवल ऑफ द फिटेस्ट' द्वारा धर्म को पहली बड़ी चुनौती दी थी, यह बताकर कि मनुष्य ईश्वर की नहीं, बंदर की संतान है, पर खुद डार्विन को यह नहीं सूझा कि दुनिया जब स्वाभाविक जैविक

विकास का प्रतिफल है और कोई ईश्वर इसके आपसी उलझाव की समस्या सुलझाने नहीं आएगा तो समाज में ही मिल–जुलकर कुछ ऐसे विधान रच लिये जाएं जो खरगोशों, हिरणों और उन भोले वंचितों के पक्ष में खड़े हों, उन्हें एकता का पाठ पढ़ाएं और सुरक्षित जीवन के कुछ सार्थक क्षण जुटाने का इंफ्रास्ट्रक्चरल (आधारभूत) अवलंब भी उन्हें दें।

यह सबसे पहले सूझा मार्क्स को। मानवाधिकारों के समर्थन में, कमजोर के समर्थन में एक 'प्रेशर–ग्रुप' कायम करने का सुंदर सपना उन्होंने देखा। वंचितों को एकजुट रखने का मूलमंत्र भी उनका ही दिया हुआ है–पढ़ी–लिखी सब स्त्रियां इसलिए मार्क्स की कृतज्ञ हैं हालांकि परंपरा भी इसके समर्थन में कुछ संकेत सामने रखती है–जैसे कि चित्रग्रीव नामक कपोतराज का जाल में फंसे कबूतरों को यह संदेश कि एकजुट होकर जाल–समेत ही उड़ जाओ और मेरे मित्र, मूषकराज के पास चलो। लघुपतनक नाम का यह मूषकराज 'पंचतंत्र' में जाल काट भी देता है जो अपनी परंपरा का जाल है। 'पंचतंत्र' अपनी परंपरा का पहला सबल और सार्थक सेक्यूलर पाठ है–एक जगह भी भगवान का नाम लिये बिना आध्यात्मिक मूल्यों की ऐसी सुंदर व्याख्या सामने रखता है कि नैतिकता की आधारभूत संरचना झक से उजागर हो जाती है।

बहुत दिनों से मेरे मन में यह बात हिलोरें ले रही है कि सब धर्मग्रंथों, व्रतकथाओं, त्योहारों और संस्कारों की एक धर्मनिरपेक्ष व्याख्या कोई स्त्री अध्ययन–मंडल करे और एसेप्स फेबेल', 'पंचतंत्र', 'हितोपदेश' आदि सेक्यूलर पाठों का भी। ईश्वरनिरपेक्ष नैतिकता का ग्राफ क्या बनता है–इसका संधान यह सहज ही सिद्ध करेगा कि ईश्वर कम–से–कम स्त्रियों के लिए एक बहुत ही प्यारी निर्मिति है। मनुष्य जिस ऊंचाई तक उठ सकता है–इसका उत्कर्ष है ईश्वर। आस–पास की दुनिया में तो वैसे धीरोदात्त, धीरप्रशांत, धीरललित पुरुष दिखाई देते नहीं जो स्त्री–मन की सूक्ष्म संवेदनाएं समझ सकें–इसलिए हर स्त्री भैंस के आगे बजती हुई बीन बनकर रह जाती है।

कुछ दिन वह उपक्रम करती है आस–पास के लोगों में महीनी भरने की लेकिन लंबा खिंचता जाता है यह इंतजार और आदर्श प्रेमी/पिता/सखा/बालगोपाल की कल्पना से ही काम चलाना पड़ता है।

लेकिन यह कल्पना जरूरी है, ईश्वर नाम का यह 'वर्किंग हाइपोथेसिस' जरूरी है। यह उसके जीवन में थोड़ा तो रंग–रस भरता है और भविष्य के 'नए आदमी' की गढ़न का एक ब्लू प्रिंट भी सामने रखता है। कभी–कभी यह सड़े–गले आसन्न के विरोध का तेज भी भरता

है–जैसे मीरां आदि भक्त कवयित्रियों के यहां एक के स्वीकार में बाकी सबका, पितृसत्ता का, राज्यसत्ता का भास्वर नकार–

'मेरे तो गिरधर गोपाल/दूसरो न कोय'

या महाराष्टं की भक्तकवि जनाबाई[7] के यहां इस आदर्श पुरुष का ब्लू प्रिंट हम कुछ ऐसे पढ़ सकते हैं–

'हे माधव, देखो न–
कितने तो काम धरे हैं सिर पर,
इतना आटा गूंधना है अभी,
इतने कपड़े कूटने हैं
आओ भी, हाथ बंटा दो थोड़ा
या फिर तुम हेर दो जुंए ही जरा–

कुछ तो करो न, कुछ करो।' (मराठी कविता की एक पंक्ति के आधार पर पल्लवित, जो मैंने औरंगाबाद की एक बस में मजदूर औरत के मुंह से सुनी थी। वह मस्ती में आंख मूंदे गाए जाती थी। उसकी मस्ती से आकर्षित मैं उसकी सखी बनी। बहनापे का एक अजब सूत्र हमारे बीच आज भी कायम है।) सामान्य औरतों के जीवन में–भक्ति सब समस्याओं की खूंटी कैसे बन जाती है और एक बड़ा कवच भी–उसे एक कविता में ढालने की कोशिश की थी कभी :

खंडिता

समय : सुबह साढ़े सात, एफ.एम. टाइम
स्थान : सीढ़ी के नीचे आलने घेरकर बनाया गया पूजा–घर
दृश्य : कुर्सी पर दफ्तर की साड़ी। देह पर एक भीगा कुरता, हाथ में दुर्गासप्तशती
'या देवी सर्वभूतेषु... सविता, देखो बेटी, जल तो नहीं रही सब्जी?
निद्रारूपेण संस्थिता... जागा पिंटू, उसे जगाओ, स्कूल–बस छूटेगी।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै... फौन बज रहा है उठाओ तो!
मेरा होगा तो कह देना–सी.एल. पर हूं आज!
सिर दुख रहा है!
ऊं जयंती काली–कहाकाली–अखबार वाले भैया, रुक लो!
आती हूं, कर लूं हिसाब, कल मिल गई मुझे तनख्वाह।

(देवी की मूर्ति से मुखातिब)

अच्छा, सुनो देवी,
अब तुम ही मेरी प्रतीक्षा करो।
सदियों से बंद पड़ी हो मूर्तियों में
अकड़ गई होगी ये पीठ तुम्हारी
एक मुद्रा धारे–धारे।
कहो तो जरा 'मूव' मल दूं!
किसने कहा था कि खेलो तुम
इतनी मगन होकर स्टैचू–स्टैचू?
लेटो–लेटो, उधर करवट करो,
यह नस दबेगी तो होगा आराम!
बैठी–बैठी देखती रहना–
दूध उफनकर गिर जाए!

किसी भी तथाकथित देवी या देवता के आगे सिर नवाना दरअसल एक सात्विक भाव के आगे सिर नवाना है। मन के भावों के अनुरूप देवता भी अनंत हैं–'मानिए जो भावै'! तैंतीस करोड़ देवताओं में किसी एक का वरण दरअसल अपने व्यक्तित्व के मूलभाव के रेखांकन की कोशिश है। इस तरह वह अपने सही 'मैं' को पहचानने की कोशिश या, पुरातन संकेत में कहूं तो, आत्म साक्षात्कार है।... आस–पास की दुनिया इतनी विद्रूप, विशृंखल, छल–छद्म से भरी दिखती है कि कोई भी संवेदनशील मन एक स्वर्गनुमा यूटोपिया और देवनुमा आदर्श की कल्पना में थोड़ा सुख पा लेता है। यह एक तरह की थेरेपी भी है :

ऐसा कोई ना मिला जिन सौ रहिए लागी
सब जग जलता देख्या अपनी अपनी आगी।

चूंकि आस–पास ऐसा कोई मिला ही नहीं जिसकी उपस्थिति विश्वसनीय, सुकून से भरी हो–हम कल्पना में एक अलख जगा लेते हैं, और भला हो मिथकीय परंपराओं का जो इसमें हमारी मदद करती हैं–यह समझती हुई थी 'Human kind cannot bear very much reality...'

स्त्रीचिंतन के आलोक में धर्मों का धर्मनिरपेक्ष आकलन : पूर्वापर अध्ययन :

"Sweet are the uses of adversity"–शेक्सपियर के इस रोचक कथन की खिड़की से विश्वयुद्ध के बाद का संसार देखें तो एक बात यह स्पष्ट होगी कि कम–से–कम

पश्चिम में स्त्रियां नौकरी के चक्कर में ही सड़कों पर आने को विवश हुईं–तब जब युद्ध में पुरुष बड़ी संख्या में खेत आए और पूरी 'मनीऑर्डर इकोनॉमी' गई चूल्हे–भाड़ में, यानी कि बच्चों–बूढ़ों की आर्थिक जिम्मेदारी भी स्त्रियों की ही हो गयी! उस काल की प्रसिद्ध फिल्मों और उपन्यासों के शीर्षक ही बताते हैं कि औरतों को किस तरह की नौकरियां मिल पाती थीं–'नर्सिंग फेयरी', 'सेकेण्ड शिफ्ट', 'टेलीफोन गर्ल', 'माई फेयर स्टेनो', 'एडुकेटेड वाइफ'! इतने छोटे पदों पर यानी मातहत की तरह गरीब, मजबूर और (पितृसत्तात्मक विश्व की) हिंसक चालाकियों से अनभिज्ञ स्त्रियां काम करें तो स्त्री–पुरुष के बीच का व्याकरण बदलेगा ही जिसकी भरपूर चर्चा उस समय के पल्प साहित्य और फिल्मों में भी है। भारतीय साहित्य और फिल्मों में इसकी अनुगूंजें थोड़ी देर से सुनायी पड़ीं–''वाइल्ड कैट्स ऑफ बॉम्बे'', ''चालू जमाना' एक तरफ तो दूसरी तरफ 'मुस्लिम सोशल्स' भी ('मेरे महबूब', 'मेरे हुजूर', 'बहू बेगम', 'मेरे गरीबनवाज़') जैसी फिल्में जो अब गायब ही हो गई हैं दृश्य से। इन सबके पहले चालीस के आस–पास एक और फिल्म आयी थी 'वाइ आई बिकेम अ क्रिश्चन'! धैर्य से इन लोकप्रिय फिल्मों के स्त्री–किरदारों की तरफ से सोचकर देखें तो एक पंक्ति में यही निष्कर्ष सामने किया गया है कि 'चालू जमाना' से निबटने की दृष्टि 'धर्म' ही देगा! एक प्रसिद्ध फिल्म में चित्रित स्त्री और बलात्कारी के बीच का संवाद देखिए :

''भगवान के लिए मुझे छोड़ दो!''

''इतना अच्छा माल भगवान के लिए छोड़ दूं?''

और यह संवाद हंसी के मंतव्य से फिल्माया गया था! ''सत्यमेव जयते'' के दर्शन पर चलने वाली ये फिल्में और लोकप्रिय कहानियां अंत में तो खींच–तानकर सत्य की विजय और मजबूर स्त्रियों की सुहाग–वापसी और पुत्र–वापसी घटित कर देती हैं, पर बीच के दृश्य इतने भयावह और यथार्थ के इतने निकट होते हैं कि दर्शन से ज्यादा मन पर प्रभाव उन्हीं का होता है और भगवान–भगवान करते ही औरतों की जिंदगी जाती है!

इधर कुछ दशकों में जब आतंक की घटनाएं बढ़ी हैं और उनकी रिपोर्टिंग भी दृश्य माध्यमों पर बारम्बार बम वर्षा की क्षिप्रता से होने लगी है, भारत में शनि–मंदिरों की संख्या अजब ढंग से बढ़ी है, मंगल के देवता गणेश के आइकन भी हजारों डिजाइनर मुद्राओं में बिकने लगे हैं, रक्षा–स्तोत्र और ताबीजें भी टेलीशॉपिंग पर भरपूर खरीदे जाते हैं! घर से बच्चे निकले नहीं कि माताएं कवच–कीलक–अर्गला बांचने लगती हैं या दुआएं पढ़ने लगती हैं। पहले तो बच्चे मोबाइल से नाभिनालबद्ध होते भी नहीं थे, पर इतना नहीं घबराती थीं माताएं/पत्नियां/प्रेमिकाएं! इधर जनजीवन की असुरक्षाएं बढ़ी हैं तो धर्मप्राणता भी बढ़ी है!

वैसे कहावत तो यह पुरानी है कि बकरे की मां कब तक खैर मनाएगी, पर आतंककातर इस युग में जब सूचना भी एक बम ही है, इसकी व्याप्ति अधिक समझ में आती है!

ऐसे में कुछ स्त्री अध्ययन मण्डल यह मानने लगे हैं कि धर्म एक मनोवैज्ञानिक आवश्यकता है। अपने मूल स्वरूप में धर्म एक गम्भीर उपक्रम है भी। फिर उसे विकृत मानस वाले दंगाइयों के हाथ तोड़े–मरोड़े जाने के लिए छोड़ा ही क्यों जाए! वैसे तो विश्व–धर्म की बात विश्वसाहित्य की अवधारणा के बहुत पहले ही पनप गई थी–1723 में प्रकाशित *'रेलिजस सेरेमनीज ऐण्ड कस्टम्स ऑफ ऑल द पीपुल्स इन द वर्ल्ड'* (सं.–बर्नर्ड पिकार्ट) के समय से ही जब विश्वपर्यटक अलग–अलग देशों में घूमते हुए अलग–अलग धर्मों, रीति–रिवाजों, पूजा–पद्धतियों और अन्य मान्यताओं की पर्याप्त चर्चा अपने वृत्तांतों में करने लगे थे, पर बाद में 'थियोसॉफिकल सोसायटी', 'नियो बुद्धिज्म', 'नवसूफीवाद', 'धर्म–विज्ञान' आदि प्रस्तावित करती संस्थाएं विश्व–शांति और सद्भाव को निवेदित हुईं और इनमें भी अधिकांश प्रतिशत स्त्रियों का ही था। आज भी इकेदा, एजिलाबेद क्लारेट आदि के नाम से चलने वाले अंतर्राष्टीय धार्मिक संगठन द्वार–द्वार जाकर सब धर्मों का सार–संक्षेप ही प्रस्तुत करते हैं–'आत्मक्रांति' को सभी क्रांतियों का मूल बताती हुई सोकागाकाई संस्था की कई शांतिसेनानियों से मेरी बात हुई जिनका स्पष्ट कहना था कि दूसरों के दोषों पर सर खपाने से बेहतर है अपने दोषों का निवारण विश्व का नैतिक पर्यावरण तभी सुधरेगा सब 'आत्मक्रांति' में लगें! और अब तो पश्चिमी स्त्री–चिंतक भी इसे मान्यता देने लगी हैं।

जरूरी है तो बस दरवाजे और खिड़कियां खुली रखना और इतर परम्पराओं से मुक्त संवाद की पहल। इसी क्रम में भक्त कवियों, धर्मग्रंथों और गाथाओं की भी नई विवेचनाएं जरूरी हैं। आवश्यक है उनका पुनः पाठ और साथ में यह समझना भी जरूरी है कि हर युग किसी क्लासिक रचना का नया भाष्य लिखता है जैसा जे. कृष्णमूर्ति, ओशो आदि ने सम्भव किया।

इसी क्रम में हिंदी की सगुण और निर्गुण भक्तिधारा–दोनों ही तटों पर कुटिया छवाए जो विशिष्ट स्त्री–चरित्र हमें मिलते हैं, उनसे गपशप का नाता जरूर बनाया जा सकता है।

× × ×

स्त्री भक्त कवि : दर्शन का जटाजूट सुलझाते सरस संवाद :

दर्शन ज्ञानमार्गी होते हैं, भक्ति प्रेममार्गी है। ज्ञान तर्कगम्य होता है, प्रेम अनुभूतिगम्य तो निगमनात्मक पद्धति से सीधा निष्कर्ष यह बैठेगा कि दर्शन तो तर्कगम्य है, और भक्ति

अनुभूतिगम्य। तर्क का अनुभूति से कोई सीधा नाता बनता नहीं, तो फिर दर्शन से भक्ति का सीधा नाता कैसे बनेगा? क्या भक्ति भी कोई दर्शन है? है तो, शायद उसी तरह जैसे अपनी उच्छल तरंगमयता के बावजूद प्रेम भी एक दर्शन तो है ही!

भागवत की मानकर चलें तो दर्शन ज्ञान और वैराग्य नामक दो भाइयों की संयुक्त कार्रवाई है! भागवत की कथा शुरू ही ऐसे होती है कि नारद मुनि बीहड़ जंगल से होकर गुजर रहे हैं तो एक नदी के किनारे एक अत्यन्त रूपवती युवती उन्हें सिसकती मिलती है! यह अरण्यरोदन का बड़ा ही सुमग पक्ष है कि मिथकीय कथाओं में वे बहुत देर अरण्यरोदन रह नहीं पाते, उन्हें जल्दी ही एक करुणाप्रवण कष्ट–निवारक मिल जाता है! नारद रुके, उन्होंने गौर किया कि सुरम्या के अगल–बगल दो वृद्ध खांसते हुए बैठे हैं और वह स्नेह से उनका माथा सहलाती हुई रो रही है! नारद को लगा, उसके पिता–पितामह होंगे, पर वे निकले उसके बेटे, ज्ञान और वैराग्य जो बूढ़े होकर अब मरने ही वाले थे! भक्ति नाम था माता का और भक्ति चिरयुवा होती ही है–मधुरा रस से भरी हुई–उसके ये दो तर्कप्रवण बेटे ही बूढ़े खन्नास हैं क्योंकि वे किसी की नहीं सुनते, अपनी ही हांके चले जाते हैं : मृत्युमुखी वार्धक्य का पहला लक्षण यही है कि माधुर्य खो दो, लचीलापन खो दो, मधुरा स्त्रीभाव खो दो और दिन–भर गालियां देते बैठो! जो पुरुष ऐसा नहीं करते यानी कि सरस, नमनीय, सम्वादप्रवण बने रहते हैं–साक्षात् विष्णु या शिव ही हो जाते हैं, मृत्यु उनके पास नहीं फटकती और 'मारल ऑफ द स्टोरी' आगे बढ़ाएं तो इसमें यह भी जोड़ सकते हैं कि लक्ष्मी, राधा, अण्डाल, मीरां, बहिनाबाई, जनाबाई–जैसी महीयसी कन्याएं या फिर दस महाविद्याओं, पार्वती, लल्लदेद और अक्का महादेवी जैसी पद्मिनी नायिकाएं उन्हें वर लेती हैं!

नारद अरण्यरोदन करती भक्ति से टकराए तो उन्होंने उसके वृद्ध बेटों का कल्याण कैसे किया, यह सब श्रीमद्भागवद में पढ़ा जा सकता है, हमारे काम की बात यहां बस इतनी है कि मैंने महीयसी स्त्रियों की जो पहली सूची दी है, वे वैष्णव सम्प्रदाय की लोकप्रिय देवियां या भक्त कवि हैं और दूसरी सूची की पद्मिनी नायिकाएं हैं शैव–परंपरा की देवियां और स्त्री–कवि!

वैसे तो पूरा धर्म–दर्शन एक कविता की तरह भी पढ़ा जा सकता है, कम–से–कम साहित्य के छात्रों को तो उसे वैसे ही पढ़ने में सहूलियत होती है तो हम वैसा ही क्यों न पढ़ें! यह क्यों न मानकर चलें कि हर देवता एक महाभाव है–कोई वीरता का रूपक, कोई सौम्यता का! और ये जो देवादिदेव हैं–विष्णु और शिव–वे भी एक ही लक्ष्य यानी मोक्ष या मुक्ति की ओर जाने वाले दो महामार्गों का प्रतीक है! एक का आधारप्रमेय योग है, दूसरे का तंत्र, पर

आगे चलकर दोनों एक ही हो जाते हैं, इसको ही प्रतीक रूप में ऐसे कहा गया है कि शिव के हृदय में विष्णु का निवास है, विष्णु के हृदय में शिव का! पर 'रामायण' तक पहुंचते हुए स्थिति विषम हो जाती है। शिव का पुजारी, रावण शिव की प्रत्यंचा नहीं उठा पाता, और विष्णु के अवतार राम उसे तोड़ देते हैं! तो यहां किस चीज का प्रतीक है शिव का धनुष? जैसे 'नानक नाम जहाज है', बुद्ध का पंथ 'यान' है–बड़ा जहाज महायान, छोटा जहाज हीनयान, वैसे ही शिव की प्रत्यंचा एक ऐसी बेटिकट सवारी है जिसमें किसी का प्रवेश निषेध नहीं : भूत–प्रेत, सुर–असुर–सब उसकी शरण आए नहीं कि बेड़ा पार हुआ! चूंकि असुरों का भी बेड़ा पार करा देते हैं औघड़ दानी और इस अभयदान से असुर उत्पात मचा रहे हैं, कहीं–न–कहीं तो मर्यादा की सेंसरशिप लगानी होगी! शायद यही सोचकर प्रत्यंचा के रूप में यह परम्परा ही तोड़ दी गयी कि जीव–मात्र का कल्याण हो, और योग्यता का क्षेपक लगा दिया गया त्रेता में कि कल्याण उसी का हो जो कल्याण के योग्य हो! एक आचार–संहिता लागू हुई, मर्यादा के सूत्र लागू हुए। शिव–प्रत्यंचा या शैव परम्परा का टूटना एक तरह का अग्रकथन है रावण–वध का, रावण जो कि शिव–भक्त है!

पर रावण–वध के बाद मर्यादा के नाम पर भी बहुत कबाड़ा होता है, सीता–निष्कासन, शम्बूक–वध वगैरह। तो त्रेता का वैष्णव मत 'लालित्य' का नाम ले लचीला हो जाता है! यहां ध्यान देने की बात यह है कि कोई वैष्णवपंथी स्त्री कवि कभी राम की उपासक नहीं हुई, हुई भी तो कृष्ण की उपासक ही, कृष्ण जो हंसमुख सखा है, नटखट हैं, सबसे हँसते–बोलते हैं, फिर भी किसी को सटकते नहीं क्योंकि बाहर–भीतर के श्रम से थकी स्त्रियों के लिए हँसी टॉनिक है। ऐसी एकनिष्ठता का क्या करना जो सीधा देशनिकाला ही दे दे! अण्डाल, मीरां, बहिनाबाई और जनाबाई–चार वर्ग, चार वर्ण से आई हैं, पर पितृसत्ताक परिवारों की तुलना में चारों को लीलावान, हंसमुख दोस्त पुरुष पसंद हैं यानी कृष्ण! सारा जीवन वे उनके साथ मनोविनोद करती हैं, किसी की नहीं सुनतीं और एक अलग–सी यूटोपिया बसाकर उसमें रम जाती हैं। उससे भी बड़ी बात कि जिस आवेगमयी, चित्रमयी भाषा में वे कल्पित पुरुषों से बराबरी में गपशप करती हैं, उसमें स्त्री–भाषा की ठाठ के वे सब लक्षण हैं जो आगे चलकर यानी हमारे युग में एलेन सिक्सू, लूस इरिगेरे और जूलिया किस्तेवा जैसे मनोभाषाविदों के हाथों 'जोसुआ' या आनंदातिरेक के सम्यक् विश्लेषण का माध्यम बना!

स्त्री भक्त कवि : अस्मिता विमर्श के आइने में

एम. एस. शुभ लक्ष्मी या शुभा मुद्गल के कंठ में अठखेलियां करती भक्ति कविता या सूफी कविता सुनते हुए मन में तरह–तरह के छोटे खयाल, बड़े खयाल उठने ही लगते हैं, जैसे अस्मिता के आलोक में स्त्री भक्ति कविता का पाठ!

भक्ति आंदोलन और अस्मिता आंदोलन–दोनों उदारचेता आंदोलन है जिनकी शुरुआत 'अहं–प्रबंधन' की महाबोधि यात्रा या निजी क्षितिज–विस्तार में होती है और जो पहुंचना चाहती है सर्वमंगल के उन महान क्षितिज तक जिसके आगे राह नहीं है। यह तो विज्ञान और पराविज्ञान–दोनों की मूल स्थापना है कि यथार्थ के तीन आयाम होते हैं–पदार्थमयता का आयाम, चेतना का आयाम और अनन्त का आयाम जो गहराई का आयाम भी है और जिसकी परिमिति अगोचर है–इन्द्रियातीत होने की हद तक असीम और अगोचर! विज्ञानविद् उसके नाभिकीय केन्द्र में एक चुम्बकीय आकर्षण वाले चमकीले नाद–बिन्दु की संवेदन उपस्थिति की बात इन दिनों कहने लगे हैं और उसका उन्होंने नाम दिया है गॉड पार्टिकल–ईश–कणिका : सृष्टि का गुरुत्वकेन्द्र वही है–उसकी विधायक–संचालक–विध्वंसक शक्ति। अगर मांगलिक भाव ऊर्जाएं हमने स्पेस में छोड़ीं तो मांगलिक ऊर्जाएं ही लौटकर हमारा आत्मन घेर लेंगी, अमंगलकारी या नेगेटिव संवेदन भेजने पर हमारे आत्मन् पर भी नारकीय संवेदनों का परावर्तन हो जाएगा। 'जैसा बोया, वैसा काटा' की अद्यतन वैज्ञानिक व्याख्या यही है जिसके आधार पर भक्ति कविता का नया सिद्धांत कुछ यह बनेगा कि भक्त–कवि दास्यप्रेरित विनय, साक्ष्यप्रेरित प्रीति और माधुर्य, निर्वेदप्रेरित शांति की जो मांगलिक ऊर्जाएं काव्य–फलक से सृष्टि भेजते होंगे यानी प्रशस्ति और धन्यवादमूलक जो भाविक ऊर्जाएं–सृष्टि उनके प्रत्युत्तर में उनके आत्मन् पर ऐसे ही मांगलिक भावों की महामना दस्तक भेजती होंगी जिससे चित्त की सारी संकीर्णताएं विलीन हो जाती हैं और आत्मन् क्रमशः सारी सरहदें तोड़ता हुआ अनन्त में विलीन हो जाता है। तो जो मांगलिक ऊर्जाएं इष्ट को, सृष्टि को, समाज को, दाता–भाव में हम निवेदित करते हैं, उनसे उनका कुछ भला होता हो, न होता हो–हमारा अपना भला जरूर हो जाता है! उत्तर आधुनिक अन्वेषणों के आलोक में भक्ति सिद्धांत का सारांश मेरी समझ में यही आया–इस्लाम, बौद्ध, जैन, हिन्दू और सिक्ख धर्मग्रंथों के कई तेजस्वी भाष्य इसी चक्कर में मैंने पढ़े कि कुछ ऐसा उभयनिष्ठ प्रमेय समझ में आए जिसका सम्बन्ध मैं अस्मिता–लेखन के 'केयर–एथिक्स' से जोड़ सकूं।

इतना तो हम समझते ही हैं कि अस्मिता लेखन का दर्शन है भेदभाव की सारी संरचनाएं ढाहते हुए पर्यावरण–सजग, युद्ध और आतंकविरत बहुलतावादी विश्व का विकास! सारे

उत्तर–मनोभाषिक अध्ययन यह स्पष्ट कर चुके हैं कि प्रकृति भी ऊंच–नीच नहीं मानती! पारस्परिक सहयोगपरक सम्बन्धों का अंतर्जाल है प्रकृति और नाभिनालवाला जो रिश्ता समवेत का निजी से होता है, बहिरंग का अंतरंग से, वो ही अस्मिता का आत्मन से है। और यह भी कि वर्ग–जाति–लिंग–सम्प्रदाय आदि निरे संयोगों से बंधी यह अस्मिता स्पर्द्धामूलक भी होती हैं और सहकारितामूलक भी। पते की बात यह है कि अस्मिता–लेखन स्पर्द्धामूलक पक्षों के प्रति पूरा सजग होता हुआ भी सहकारितामूलक पक्षों का महास्वप्न आज तक देखता है। टूटी–फूटी चीजों से जैसे वंचितजन पेपरमैशी की सुन्दर–सुन्दर चीजें गढ़ लेते हैं : टूटे–फूटे महावृत्तांतों से अस्मितालेखन सर्मसमावेशन के महास्वप्न रचे जा रहा है–यह कम आश्चर्य की बात नहीं! स्त्री–दलित आदिवासी लेंस से देखने पर युद्ध, दंगा, बंटवारा, भूमण्डलीकरण, पर्यावरण, वर्ण–व्यवस्था और वर्ग–वैषम्य, सब एक नया आयाम पा रहे हैं।

महाप्रमेयों के ध्वंस की घड़ी जब आई, लघु–आख्यान और अस्मिता–विमर्श उसी मनोबल से उठे जिससे सूर्यास्त के वक्त दीए की लौ उठती है और शोषण का इतिहास 'सर्वाइवल' के इतिहास के रूप में पढ़ा जाने लगा। दूसरों के दुख दूर करने में लग जाना अपने दुख से मुक्ति का सर्वथा कारगर उपाय है–भक्त कवियों की यह बात अस्मिता लेखन ने आत्मसात कर रखी है। यथास्थिति को चुनौती देते हुए वैकल्पिक स्पेस गढ़ लेने का उसका तरीका, चिमटे की एक फटकार पर निजी को समवेत से चटाक जोड़ लेने का उसका तरीका भी भक्ति काव्य से काफी मिलता जुलता है।

अस्मिता–आंदोलन भी अहंकार–विलयन की, सबको एक चटाई पर बिठाकर घरेलू बिम्बों में अपना अनुभूत सत्य कहने की, बढ़ाते बढ़ाते 'अहं' की परिधि सर्वसमावेशी कर लेने की वही बात कहते हैं। ज्ञानमार्ग में निर्वेद वात्सल्य, साख्य भक्ति के सहारे अहं की सरहद बढ़ाते–बढ़ाते सर्वसमावेशी कर ली जाती है। दास्य और मधुरा भक्ति में यह प्रक्रिया उल्टी चलती है। अहं की सरहद घटाते–घटाते उस शून्य पर ले आई जाती है 'जिसके आगे राह नहीं है' पर सवसमावेशन उसमें भी वैसा ही होता है।

सूचनाओं को ही ज्ञान समझ लेने का विभ्रम हमें ठीक से प्रेममार्गी होने नहीं देता। वात्सल्य माधुर्य–साख्य, दास्य, निर्वेद आदि जो महाभाव हैं, अपनी परमशुद्धता में हमारे भीतर पैदा नहीं होते। वात्सल्य बाधित हुआ है क्योंकि बच्चों का पालन–पोषण अक्सर हम अपनी अधूरी इच्छाएं पूरी करवाने की खातिर करते हैं। माधुर्य बाधित हुआ है चूंकि स्त्रियां मनुष्य हो गयी हैं, और उन्हें बराबर का मनुष्य समझते पुरूषों का कलेजा कांपता है। दास्य भक्ति बाधित हुई है कि दलित–आदिवासी और दूसरी जमातों का भी वैयक्तियन हो गया है और उनकी

आंखों से अज्ञान का वह पर्दा भी उतर गया है जो महिमान्वितों को भगवान मान लेता था और भगवान की कल्पना भी सजे–धजे राजा या सामन्त की तरह ही कर पाता था। निर्वेद इसलिए बाधित है कि पैसा ही अब नया खुदा है, तैंतीस करोड़ देवताओं के इस देश में बाजार नया देवता है जिसे शांति नहीं बल्कि स्पर्द्धा, प्रायोजित आतंक और कूटनीति से अपनी दुकान चलानी है। ठीक है कि–ज्ञान न खेतौ ऊपजै, प्रेम न हाट बिकाई! ज्ञान न सही, सूचनाएं तो कम्प्यूटर के खेत में लहलहा ही सकती है। प्रेम न सही, सेक्स तो हाट में अच्छी पैकेजिंग के साथ बिक ही सकता है! आनन्द न सही, सुविधाएं तो खरीदी जा ही सकती हैं–भले ही उन सुविधाओं के एवज में धरती बुखार में तपती नज़र आए, सारा पर्यावरण तहस–नहस हो जाए!

बाकी बची साख्य भक्ति तो यही आजमाना चाहता है विमर्शात्मक लेखन–कंधे पर हाथ रख घरेलू बिम्बों में दुख–सुख बतियाते, निजी–समवेत, कॉस्मिक–कॉमनप्लेस, देहाती–शहराती, पौर्वात्य–पाश्चात्य के बीच का पदादुक्रम भी उसी तरह ढाहते हुए जैसे वर्णों–वर्गों, लिंग–सम्प्रदायादि के बीच का पदानुक्रम! पाठों के बीच भी एक अंतरंग गपशप उसी तरह प्रस्तावित करते हुए जैसी हम विभिन्न वर्णों–लिंगों–सम्प्रदायों के बीच चाहते हैं।

मेरी समझ में भक्तिकालीन रचनाओं से अंतःपाठीय सम्वाद जैसा विमर्शात्मक लेखन, खासकर स्त्री–लेखन ने किया है, वैसा समकालीन लेखकों में किसी और ने नहीं। इससे बड़ा इसका प्रमाण क्या होगा कि दोनों के सरोकार एक हैं। तादात्म्य बनता तभी है जब सरोकार एक होते हैं! इसका सबसे बड़ा साक्ष्य मेरे साथ घटी एक घटना है : सन 1996 में मुझे 'काली फॉर विमेन' द्वारा आयोजित एक अंतर्राष्टीय सेमिनार के दौरान दूसरी भारतीय भाषा की स्त्री लेखकों के साथ एक ही शिविर में कई दिन बिताने का मौका मिला। वहीं एक रात हमने तय किया कि मराठी, तमिल, कन्नड़ और हिंदी की भक्त कवयित्रियों का अंग्रेजी अनुवाद हम एक–दूसरे के सामने रखें ताकि उस वक्त की बगावत का अंतरंग सामने आ सके। अनुवाद करते समय प्रायः सबके मन में एक ही तरह की प्रेरणा जगी कि 'ज्यों–की–ज्यों धर दीनी चदरिया' वाला यथावत अनुवाद एक तरफ, और उसके बगल में उससे अंतःपाठीय सम्वाद करता एक आधुनिक स्त्री–पाठ–दोनों साथ–साथ तैयार हों; इस क्रम में तमिल की अण्डाल, कश्मीर की लल्लदेह, कन्नड़ की अक्का महादेवी और महाराष्ट की जनाबाई से–मैंने जो अंतःपाठीय गपशप की, उसके कुछ टुकड़े इस बात के प्रमाण के रूप में मैं आपके सामने रखती हूं कि एक आधुनिक स्त्री–मन से इन पाठों में धड़कता स्त्री मन कितना मिलता–जुलता है, कितने मिलते–जुलते हैं घरेलू बिम्ब। गहनतम बात सरल ढंग से सामने रखने की प्रवृत्ति अंतरंग शैली और देह को लेकर इनकी चिंताएं भी कितनी मिलती–जुलती हैं–

व्यर्थ है मेरा सिंगार–रूप–यौवन
उस दूध की तरह
जिसे न बछड़ा पी सका
और न जो बाल्टी में ही
भरा जा सका।
इस सांवले आम्रपल्लव की तरह
मैं कर रही हूं प्रतीक्षा कि
कब पतझड़ का पीला वैभव
चबा ले मुझे।
सुध ही नहीं लेता मेरा गोवर्धन
जी करता है काटकर फेंक दूंगी अपने स्तन
मजा चखाने के लिए !

–अण्डाल[7]

मान की पराकाष्ठा है यह जहां आत्मत्रास प्रिय का ध्यान खींचने का एकमात्र उपाय रह जाता है। घना है यह एहसास कि देह मिट्टी है, एक ऐसा आम्रपल्लव जिसे कल पतझड़ के पीले दांत चबा जाएंगे, फिर भी दैहिकता का एहसास इतना सघन है कि उसे भी दूध की तरह प्रिय के कंठ उतारना है–इसके पहले कि जीवन की गैया बिसुख जाए। आधुनिक स्त्रियों के यहां देह अधिकतर शोषण की आधारभूमि के रूप में चित्रित हुई है, पर कहीं–कहीं वह आनन्द–निर्झर के रूप में भी सामने आती है–खासकर तब जब मनचीता पुरुष या कम–से–कम उसका काल्पनिक प्रारूप सामने होता है। इस लोक में तो मनचीते पुरुष उपलब्ध होते नहीं तो कल्पना के लोक में ही उसकी अनन्त छवियों से तरह–तरह के मान ठानती हैं भक्त कवयित्रियां! भाषा की रंगीन पिचकारी से मनचीते कल्पना–पुरुष को अपने रंग में रंग लेना चाहती हैं या फिर उसके ही रंग रंग जाना चाहती हैं–'मैं तो सांवरे रंग राची' भाव से।

इतना हम सभी समझते हैं कि बौद्ध और जैन धर्मों की निग्रहवादी संचेतना के विपक्ष में सगुण भक्तों का यह सरस देहवाद पढ़ा जा सकता है! बौद्ध और जैन धर्मों का बढ़ता प्रभाव काटने के सूक्ष्म राजनीतिक उद्देश्य से भी सगुण भक्ति आंदोलन संचालित था। मन्दिर भी राजनीति–मण्डप सजाते हुए सभी वर्गों–वर्णों–लिंगों के लोगों को एक दरी पर बिठाने लगे थे–वाणिज्य–व्यापार द्वारा संपोषित कारीगरों का समूह भी इसमें शामिल होने लगा था, और भक्त कवयित्रियों को 'संतन ढिंग' बैठने का अवसर मिलने लगा था!

एक बिम्ब के सहारे अपनी बात कहूं तो जैसे कुण्डलिनी मूलाधार से चलकर सहस्रार तक उठ सकती है, गैर ब्राह्मण और स्त्रियां भी भक्ति की सीढ़ी से भाव के उच्चतम शिखर पर पहुंच सकती हैं–प्रायः ऐसी ही एक मान्यता उमड़ने–घुमड़ने लगी थी। लोकलुभावन इसी राजनीति के तहत ही लोकभाषा में ज्ञान–ध्यान वार्ता और लेखन सम्भव हुआ शायद! कुल मिलाकर बात यह थी कि भक्ति अब वैयक्तिक स्तर पर रूमानी विहार न होकर, राजनीतिसजग आंदोलन बन गयी थी, पर स्त्री की स्थिति ऐसी कि अब भी उसकी देह जबर्दस्ती के घाव झेलने को विवश थी, इसी स्थिति के प्रतिकार के लिए निर्वस्त्र तीर्थाटन पर निकल पड़ीं कश्मीर में लल्लदेह और कर्णाटक में अक्का महादेवी। डंके की चोट पर अक्का बोलीं–

राजा वसूलेगा कर
धन–वन–जमीन पर,
लेकिन लगाएगा कैसे लगान
रूप पर या गंध पर।
शान्ति जो लपेटे है मुझको
चारों तरफ से–
कैसे ले जाएंगे वे छीनकर?
उसका ही नूर दुशाला मेरा
क्या मुझको करना है वस्त्रों का?

–अक्का महादेवी[8]

इसी तरह मलिन नेत्रों वाले पण्डितों को चुनौती देती लल्लदेह कहती हैं–

शास्त्र रट जाना आसान है,
उस पर अमल करना मुश्किल,
सच का संधान नहीं
बच्चों का खेल।
आंख गड़ाकर देखा तो उड़ गये
शब्द आखिरी–
खुशदिल, प्रशांत–
मुझे मिला बैठा वहां
मेरा वह उठा–बैठापन!

–लल्लदेह[9]

'ऐसा कोई ना मिला जिन सौं रहिए लागी' का मर्म स्त्रियां जितना समझती हैं, पुरुष नहीं समझते, क्योंकि पुरुषों की पसन्द के हिसाब से ढलने की जितनी कोशिश स्त्रियां करती हैं, स्त्रियों की पसन्द के हिसाब से ढलने की उसकी शतांश कोशिश भी पुरुष नहीं करते। कई बार उन्हें सूझता ही नहीं कि ऐसा करना चाहिए क्योंकि बहुधा वे उन्हें मनुष्य ही नहीं समझते, इसका नतीजा होता है कि स्त्रियां भी अपनी पसन्द का बबुआ या तो अपने बच्चों में या अपने 'मदन गोपाल' में ढूंढ लेती हैं–और फिर अक्सर ऐसा होता है कि देह का पिंजरा तो गृहस्थी के द्वार पर टंगा हुआ रह जाता है, पर मन की चिड़िया उड़ जाती है फुर्र! महाराष्ट्र की तीनों भक्त कवियों के साथ ऐसा ही हुआ, उन्होंने घर नहीं छोड़ा, आधुनिक स्त्रियों की तरह घर–गृहस्थी करते हुए अपना वैकल्पिक संसार कल्पना में बसाया और काल्पनिक सखा से मजेदार टोन में गपशप में की। तुकाराम की बहन, मुक्ताबाई निर्गुण भक्ति में पगी थीं, पर तंत्रसिद्ध अपने गुरु चंगदेव से उनके प्रश्नपरक संवाद स्त्रीभाषा के बांकपन का अद्‌भुत नमूना है। कुछ अनूठी लोरियां भी इन्होंने लिखी हैं जिसमें गुरु ही मां है और शिशु भी :

'पालना हृदय में ही डोल रहा,
मौन की डोर से बंधा!
शांति, क्षमा, देहशून्यता–
आई हैं झुण्ड बनाकर नाम धरने शिशु का!
सगुन खिलौना ही है।
जब मां की चुटकी से
सो हम सुनते–सुनते
आ जाएगी योगनिद्रा,
जागेगा किसी और ही लोक में
मेरा बबुआ!''
(लम्बी कविता का छायानुवाद)

–मुक्ताबाई[10]

X X X

मुझसे पूछा जाए तो नई जमीन पर सूर–तुलसी की दो प्रसिद्ध पंक्तियों के पुनर्रोपण से अस्मिताधर्मी साहित्य का मूल दर्शन रेखांकित करूं–

'बहिरौ सुनै मूक पुनि बोलै
रंक चलै सिर छत्र धराई।'

पहली कामना तो अस्मिताधर्मी साहित्य की ये ही है कि जो कभी नहीं बोले, मुंह खोलें, और जिन्होंने कभी किसी भी बात पर कान नहीं दिया, उन्हें धैर्यपूर्वक सब–सुन–समझकर आत्मप्रक्षालन की सुध आए।

दूसरी पंक्ति तुलसी बाबा की–

'अब लौं नसानी अब न नसैहौं।'

'अस्मि का मतलब ही है 'मैं हूं'–है भी हूं–जरा देखो इधर 'हम भी मुंह में जबान रखते हैं/कोई पूछे कि मुद्दा क्या है...। 'मैं हूं' का व्यंजनात्मक विस्तार 'मैं हूं न' का आश्वासन देता है। स्त्री–आंदोलन ने अपनी 'अस्मि' की परिधि हमेशा विराट रखी–छठी दशक में निःशस्त्रीकरण का, सातवें में नेग्रिच्यूड का, आठवें में सिविल राइट्स का, नवें में भूमण्डलीकरण और पर्यावरणगत समस्याओं का बृहत्तर मुद्दा स्त्री आंदोलन के आंचल तले ही पला। एक बूंद खून बहाए बिना सिर्फ भाषिक औजारों से, घर में और घर के बाहर अस्मिता–लेखन ने वही पहल की जो भक्ति–कविता ने। जनतांत्रिक मुद्दों पर मनोवैज्ञानिक युद्ध साधने का फैसला भक्त–कवियों की तरह अस्मिता लेखकों ने भी कभी छोड़ा नहीं। 'जो है, उससे बेहतर चाहिए–की धुन दोनों एकतारों पर बजी। यथास्थिति को चुनौती और वैकल्पिक जीवन चुनने का आत्मबल ही इन्हें नाभिनालबद्ध करता है!

मोक्ष और स्वाधीनता : एक पंक्ति में कहें तो मुक्ति अपने दोनों अर्थों में क्षितिज अगाध कर लेने की सम्भावना का ही दूसरा नाम है। भक्ति आंदोलन और अस्मिता आंदोलन इसी अगाधता को समर्पित है।

महादेवी की मीरां : मनचीते पुरुष की खोज

एशियाई स्त्रीवाद जे. बर्नहार्ट की इस अवधारणा से नजर आता है कि 'कहते रह गये फ्रॉयड धर्म को 'भ्रांति' और मार्क्स उसे अफीम बताते रह गये, पर मनुष्य की जात लाइलाज रूप से धर्मप्राण ही रही।'[1] इसलिए समझदारी इसी बात में है कि हम उभयनिष्ठ धार्मिक प्रपत्तियों या आध्यात्मिक मूल्यों (नैतिक कथाओं, मिथकों, रीति–नीतियों) की एक साझा गुदड़ी सिलें और *धार्मिक कट्टरता* की धज्जियाँ उड़ाते ऐसे धर्मेतर अध्यात्म के पैरोकार बनें जहाँ कुछ भी भयावह रूप से गम्भीर और सँकरा नहीं, तरल हँसमुख दोस्त दृष्टि से परिचालित है सब–कुछ! जरूरी है तो बस खिड़कियाँ–दरवाजे खुले रखना, इधर परम्पराओं से मुक्त संवाद की पहल। इसी क्रम में भक्त कवियों, धर्मग्रंथों और गाथाओं की भी नयी विवेचनाएँ जरूरी हैं। आवश्यक है उनका पुनःपाठ और साथ में यह समझना भी जरूरी है कि हर युग किसी

क्लासिक रचना का नया भाष्य लिखता है। हिंदी साहित्य के ज्यादातर इतिहास स्त्री–कविता के नाम पर 'मीरां' स्टेशन से एक छुक–छुक गाड़ी छोड़ते है। यह गाड़ी बीच के छोटे–छोटे स्टेशन फलांगती सीधी 'महादेवी' पर रुकती है और मजे की बात यह कि इतनी सदियों के अंतराल के बावजूद दोनों स्त्री–कवियों के 'चिरप्रतीक्षित पुरुष' एक जैसे हैं–काम्य परिवेश गढ़ने में निमग्न वर्गातीत (डीक्लास) सखा। 'ज्ञानिनामअग्रगण्य' चरवाहा किशोर मीरां रानी के मनचीते पुरुष हैं। रहा महादेवी का प्रश्न तो उनके निजी जीवन के बारे में तो बस बुद्ध और गांधी हैं जो कहीं से भी 'मैचो' अतिपुरुष नहीं। दोनों के मनचीते पुरुष बराबरी में संवाद के लिए प्रस्तुत हंसमुख साथी हैं जो देश–काल में जरूरी परिवर्तन घटित करते हैं पर खून–खराबे से नहीं, रीति–नीति से। गपशप और हास–विलास के लिए हरदम उपलब्ध नहीं रहते, वियोग में डालते हैं। पर वह वियोग भी मीठा है, क्योंकि उसमें मार–पीट, गाली–गलौज की स्मृतियां डाका नहीं डालतीं। एक कल्पनाशील स्त्री के लिए तो सहज सौहार्द का तरल आश्वासन ही बहुत है और यह एहसास कि उस चिरप्रतीक्षित की स्मृतियां मधुर हैं और परिवेशगत विषमताओं के विरुद्ध संघर्ष के जिस महामिशन से वह जुड़ा है, वह उसे (स्त्री को) भी तो एक ऐसा स्नेह–तरल रचनात्मक स्पेस दे रहा है जहां हर समय कोई सर पर सवार नहीं है!

मीरां जन्मशती के अवसर पर राजस्थान की कई संस्थाओं ने महादेवी को मीरां पर बोलने के लिए बुलाया था। राजस्थान के अलग–अलग हिस्सों में घूमकर वे मीरां पर बोली थीं। राजकमल प्रकाशन के लिए यह भाषण–शृंखला संपादित करते हुए यह बात मेरे मन में कौंधी कि समकालीन स्त्री–कविता में उभरने वाले दोस्त–पुरुष और दोस्त–परिवेश का ब्लू–प्रिंट कहीं–न–कहीं मीरां और महादेवी के मनचीते/चिरप्रतीक्षित पुरुष से जुड़ता है तो बृहत्तर परिवेश की विडम्बनाएं समेटने में व्यस्त है और जिसे अपनी साथिन से यह उम्मीद भी है कि वह उसके वियोग में रोती–झींकती बैठी नहीं रहेगी बल्कि अपनी सर्जनात्मक वृत्तियों का ऊर्जस्वी उपयोग करती हुई एक ऐसा खुला–खिला भाषा–घर रचेगी जिसमें दरवाजे और दीवारें हों ही नहीं। हवा की तरह, रूपकों की तरह, धूप की तरह कोई कभी भी, कहीं से भी आ–जा सकता हो। घर वही होता है जहां आप लौट सकें। इसलिए स्मृतियां घर हैं। सपनों से स्मृतियों तक की आवाजाही हरदम कायम रहती है। कविता घर है। जल्पना से कल्पना का नाता जब भी विच्छिन्न हुआ, सारे पुल टूट गये। कल्पना और जल्पना, निजी और समवेत, माइक्रो और मैक्रो, वैचारिक और राजनीतिक के बीच का पदानुक्रम स्त्री–भाषा एक आवेगमय झप्पी, एक हंसमुख जक्स्टापोजिशन में तोड़ती है। स्त्री–भाषा का यह उद्यम गैर–बराबरी के प्रतिकार के

अनुरूप ही है, जो इसका बृहत्तर दर्शन भी है। इसके सूत्र मीरां–महादेवी की कविता में भी ढूंढ़े जा सकते हैं।

दीवारें लांघने का यह क्रम ही स्त्री को (स्त्री–भाषा, स्त्री–साहित्य को भी) वह हंसमुख दोस्त–दृष्टि देता है जो पदानुक्रम ढा दे। हास्य जगता ही वहां जहां सोचने और देखने के स्थापित क्रम को एक खुशदिल–सी चुनौती मिलती है। मीरां की भाषा में यह खुशदिल चुनौती स्पष्ट है, महादेवी की भाषा मुंह पर आंचल रख कर हंसती है–खासकर गद्य में। अवज्ञा वहां है पर सविनय, मीरां की तरह बिंदास अवज्ञा नहीं। हंसने के क्रम में वे रक्त और यौन संबंधों तक सीमित परिवार और धर्म की जकड़बंदियों को चुनौती देना भी नहीं भूलतीं! वैष्णवों से मीरां का मलंग विवाद और काशी विश्वविद्यालय के आचार्यों से महादेवी की गम्भीर असहमतियां इस बात का स्पष्ट साक्ष्य वहन करती हैं कि उनकी कविता की तरह उनकी धर्मचेतना भी जकड़बंदियों के बाहर थी! अब्राह्मण होने के कारण महादेवी वर्मा बनारस हिंदू विश्वविद्यालय से संस्कृत में एमए नहीं कर सकीं, पर संस्कृत के आर्ष साहित्य से किये गये उनके अनुवाद और बौद्ध दर्शन से ही नहीं बल्कि बुद्ध के व्यक्तित्व से भी उनका गहरा अनुराग किसी भी शास्त्र से अधिक अंतर्दृष्टिपूर्ण है। कृष्ण, गांधी या और किसी योगीनुमा पुरुष के लिए स्त्रियों के मन में जो एक स्वाभाविक आकर्षण होता है, वह शायद इसलिए कि सामान्य पुरुषों की तरह वे उनके पीछे नहीं पड़ते और थोड़े से शांत–सचेत होते हैं, स्त्रियों के ज्ञानात्मक या संवेदनात्मक विस्तार में उनकी रुचि होती है, उन्हें गर्भ–मात्र या काया–मात्र मानकर खारिज करने में नहीं! इसलिए बाद के साहित्य में पनपी दोस्त और हमदर्द पुरुष की अवधारणा से भी उन्हें जोड़ा जा सकता है जिसे रेचल ऐल्स ने 'हेजेमोनिक' करार दिया है :

> वर्चस्ववादी मर्दानगी के धारक 'धांसू रूप से आदर्श' पुरुष नहीं होते। वे तो अपने ढंग से अनूठे, सबसे अलग–लोकप्रिय नायक, फंतासी–प्रतिमाएं और अनुकरणीय प्रतिमान होते हैं। वर्चस्ववाद सांस्कृतिक प्रभुत्व से संबंध का प्रश्न ही तो है, गणनावाद उसके स्वभाव में नहीं, सिर्फ सिर गिनकर संतुष्ट वह नहीं होता।[2]

ज्यादातर पुरुष पढ़ी–लिखी, परिष्कृत मन वाली स्त्रियों के इस मनचीते पुरुष से चिढ़ते हैं। इस पूरे ब्लू प्रिंट से वे चिढ़ते हैं, क्योंकि इस पर खरा उतरना कई बार उनके लिए सम्भव नहीं होता और इस आदर्शीकरण की कुछ समस्याएं भी हैं। खासकर पश्चिम में निर्विवाद रूप से आदर्श पुरुष कौन है–अमेरिकी मर्द–शादीशुदा, जवान, उत्तर अमेरिकी सफेद मर्द, शादीशुदा और नौकरीशुदा, कद–काठी, कार–वार–सब कुछ आदर्श, एक इंच कम, न ज्यादा, खेल के

मैदान में भी बाजी मार आया पुरुष। जो पुरुष ऐसा नहीं हो पाता, अपूर्ण और अयोग्य होने की एक कसक और कुंठा उसे आजीवन परेशान रखती है।

भूमण्डलीकृत बाजार द्वारा प्रस्तावित *'कम्पलीट मैन'* अब तो भारत में भी रेमण्ड्स सूट पहनने वाला और बड़ी गाड़ी पर घूमने वाला सम्पन्न पुरुष हो गया है, पर स्वाधीनता आंदोलन तक ऐसी बात नहीं थी! नेहरू तो इस छवि में थोड़े फिट भी होते लेकिन जिन दो स्त्री–कवियों की बात आज हम करने चले हैं, उसमें मीरां का मनचीता पुरुष तो ज्ञानी चरचाहा था। महादेवी के मन्त्री मनचीने पुरूषों में एक था राजपाट छोड़कर चल देने वाला सिद्धार्थ और दूसरा एक लंगोट में विलायती राउण्ड–टेबल कान्फरेंस हो आने वाला निर्भीक मोहनदास। इन तीनों में से किसी को अपने पौरुष के अनवरत रेखांकन के लिए अतिपुरुष होने की जरूरत नहीं थी और इसलिए ये संवेदनशील स्त्री कवियों के अनन्य सखा हो पाए।

ध्यान से देखें तो एशियाई स्त्रीवादियों की साहित्यिक आलोचना स्रोत–विश्लेषण में उत्तर–औपनिवेशिक, साम्य–दर्शन में मार्क्सवादी, भाषिक विश्लेषणों और अस्मिता–विषयक अवधारणाओं में उत्तर–संरचनावादी है। 'सारि–सारि को गहि लियो, थोथा दियो उड़ाय' से ही इसने अपना मॉडल लिया है और इनकी अगाध गम्भीरता का आकलन तब तक सम्भव नहीं होगा जब तक हम हिंदी में स्त्री–साहित्य की इतिहास–दृष्टि का सही आकलन नहीं करते और उसके नैतिक भूगोल का भी जिसका सीधा संबंध धर्मेतर आध्यात्मिक चेतना से बनता है।

× × ×

दुनिया के पैमाने पर स्त्रीवादी धर्म–चेतना के तीन शिविर हैं–एक क्रिश्चियन और मुसलमान स्त्रियों के व्याख्याशास्त्र से जुड़ता है, दूसरा बौद्ध स्त्रियों के आत्म–नियोजन से और तीसरा प्रकृति के येन–प्रिंसिपल या देवी चेतना के आकलन से। भारतीय संदर्भ में देखें तो यहां हम थेरीगाथा और भक्त कवयित्रियों की आधुनिक व्याख्याओं के अलावा मिथकों, लोक–परम्पराओं और रीति–रिवाजों के स्त्रीवादी विश्लेषण का अध्याय भी जोड़ सकते हैं। भारतीय स्त्री–साहित्य गहरे अर्थों में अंतःपाठीय है और अपनी जातीय स्मृतियों में इसकी जड़ें गहरे धंसी हैं। इस आधारभूत तथ्य की समझदारी ही कुमकुम संगारी, रूथ वनिता, पुष्पा भावे आदि की आलोचना–दृष्टि को परम्परा प्रक्षालन का धीरज देती है और बार्बरा आई ओन तथा हेली माउण्टेन आदि की काव्य–दृष्टि को *परम्पराओं के अंतः पाठीय संवाद का!* इगेलहार्ट के एक स्थानीय रिवाज का उत्खनन करती हुई वे मासिक स्राव से भीगे धागे से पेड़ लपेटने का बिम्ब एक विराट धरातल पर प्रतिष्ठित करती हैं :

औरतों ने बुना है हमेशा,

हम भी बुने जा रही हैं ये धागा जीवन – परिधि में
औरतों ने बुना है समय, विस्तार बुने हैं,
हम भी बुने जा रही हैं ये धागा जीवन–परिधि में।
जैसे कि बीज बुनती हैं धरती में हम,
आओ, बुनें धागा जीवन–परिधि में
जैसे कि कविता में शब्द बुनते हैं,
आओ बुनें धागा जीवन–परिधि में
बुनती है औरतें हमेशा,
ये धागा बुनती हैं और देवियां साथ होती है उनके।[3]

इसी लय में भक्ति की 'वीविंग' में विमर्श और ज्ञान की 'वीविंग' संज्ञान से करती हुई हमारी स्त्रीवादी अध्येता आगे बढ़ी हैं ताकि कम–से–कम स्त्री–साहित्य और समीक्षा में 'विशिष्ट' और 'सामान्य', 'शास्त्रीय' और 'लौकिक', 'मैक्रो' और 'माइक्रो' का पदानुक्रम टूटे और नैतिक भूगोल से असम्पृक्त न हो स्त्रीवादी इतिहास–दृष्टि।

II

किसी देश के जीवन में जो ऐतिहासिक या नाटकीय मोड़ आते हैं, उनका मंचन दोहरा होता है–एक मंचन युद्धभूमि में, सड़कों पर, भूमिगत दस्तों में, कहवाघरों में, पार्टी–दफ्तरों, पबों में, अखबार के दफ्तरों में, स्कूल कॉलेजों, नाटय संस्थानों, मंदिरों–मस्जिदों–गिरजाघरों के प्रांगणों में, रजवाड़ों में, संसद में; और दूसरा मंचन उनके समानांतर एक और जगह जिसे घर कहते हैं। जो भी लड़ाइयां बाहर लड़ी जाती हैं, जो भी कारस्तानियां बाहर की जाती हैं, उसका यथोचित बखान, उचित सम्पादन के साथ यानी कहीं से बढ़ा कर, कहीं से घटा कर पत्नी–बच्चों, भाई–बहनों–बुजुर्गों के सामने ज्यादातर पुरुष करते हैं। और छने–छनाये उपाख्यान, ये फिल्टर्ड नैरेशन स्त्री–मन और बाल–मन में छायाचित्र रचते हैं। उस छायाचित्र में वह सुना–सुनाया इतिहास अपने ढंग से, दुबारा रचा जाता हैं। जो भी सुना गया, उसे अंतर्मन में दर्ज करते हुए भी एक स्वचालित सम्पादन चलता रहता है यानी कि उसकी आलोचना–प्रत्यालोचना चलती रहती है। गृहीता के संस्कार कुछ बातों का काल्पनिक विस्तार करते हैं, कुछ का अन्यमनस्क सम्पादन।

स्वाधीनता–संग्राम के दौरान स्त्रियों की जो भी इतिहास–दृष्टि बनी, स्त्री–साहित्य में उसकी परछाइयां हैं। यह ऐसा समय था जब स्त्रियां गौरव–गाथाओं का और दमनचक्रों का मूक श्रोता–भर नहीं थीं। द्रष्टा, अभिनेता, योद्धा भी थीं। सुने और देखे हुए के बीच का, कल्पना और जल्पना के बीच का फर्क उस वक्त के पूरे साहित्य में दर्ज है। सत्य एक बड़े मूल्य, बल्कि हथियार की तरह उभरा था, इसलिए सुने और देखे हुए का, कथनी और करनी का भी फर्क उतना नहीं था, और हर बड़ा कवि संकल्पसिद्ध मौन में तपने का आदर्श रखता हुआ कुछ ऐसा ही सोचता जान पड़ता है था कि 'वक्त आने पर दिखा देंगे तुझे ऐ आसमां, हम अभी से क्या बताएं, क्या हमारे दिल में है।' आखिरकार, वक्त एक बड़ी दराज, एक बड़ी जेब तो है ही। इंसान अपने संकल्प, अपने सपने और स्मृतियां उसी में तहा कर छुपा लेता है, और इंतजार करता है उस घड़ी का जब वह अपने पूरे मर्म में उनका उद्घाटन कर पाएं।

'मनसाचिन्तित कर्मणावचसा न प्रकाशयेत/अन्यलक्षित कार्यस्त यतः सिद्धि न जायते'– स्त्रियों से ज्यादा इस बात का मर्म कौन समझेगा भला। *विनयपत्रिका* में तुलसीदास सीता से कहते हैं कि माता, उस समय मेरी अर्जी लगाना रघुवीर के आगे जब उनका चित्त प्रसन्न हो, यानी कि मूड ठीक हो। स्त्री से ज्यादा पुरुष का मूड तोड़ने वाला होगा भी कौन! जिंदगी मुंह ताकते

बीत जाती है। अपनी मनौतियां–चुनौतियां भी वे उस अभेद्य गांठ में छुपा कर रखती हैं जिसे देरिदा अपोरिया कहते हैं।

महादेवी का मीरां–पाठ

हर पाठ में एक गुत्थी होती है। उस पर उंगली पड़ते ही सूत्र पकड़ में आ जाते हैं और अर्थ खुल जाता है। पाठ को पाठ के विरुद्ध पढ़ना यानी सीवन उधेड़ कर पाठीय अवचेतन तक पहुंचना आसान हो जाता है। आगे उद्धृत भाषण–शृंखला के मुख्य बिंदुओं में महादेवी की पहली और अंतिम स्थापनाओं की गांठ में 'सविनय अवज्ञा' और 'अहिंसात्मक प्रतिकार' का वही महाप्रमेय है जिसके आलोक में 1930 के आस–पास का पूरा स्त्री–विमर्श समझा जा सकता है।

महादेवी के मीरां–विमर्श में अपने युग की आहटें साफ सुनाई देती हैं : विद्रोह की मीठी धमक, जैसे थोड़ा–सा कहना है, थोड़ा अव्यक्त रख लेना है, पर्दे के खिलाफ बोलना है पर सर से आंचल गिरने नहीं देना है। कुल मिलाकर कहें तो महादेवी वर्मा की स्थापनाएं विद्रोह की मर्यादित अभिव्यक्ति की प्रतीककीलित भाषा का भास्वर उदाहरण है। मीरां में भी वे विद्रोह का उन्नयन ही देखती हैं, प्रकट विद्रोह के अपने गीतों का साक्ष्य लेकर कहती हैं कि वे सामयिक संदर्भों में बंधे थे, इसलिए काल–कवलित हो गये। निजी संदर्भों के पार वियोग का रूपायन ही असली कला है, यानी वियोग किसी भी आदर्श स्थिति का अभाव है : घर में, सड़क पर, राजनीति में, सामाजिक संकायों में।

आखिर हम भूलें भी कैसे कि महादेवी वर्मा छायावादी कविता की इकलौती बेटी हैं, सात भाइयों वाली चम्पा की तरह अकेली, गम्भीर और मातृमना। कुछ–कुछ वैसी ही जैसी हमारी दादी की पीढ़ी की ज्यादातर स्त्रियां होती थीं–किस्से–कहानियों, गीतों–मुकरियों का सागर, ज्ञान–विवेक की पूरी पिटारी, पर जब जीवन के निजी प्रसंगों की बारी आती, छत्तीस तोले के करधन की तरह वे प्रसंग तकिये की रुई के नीचे कहीं गायब हो जाते! कोई तो बात होगी कि उन दिनों की एक हिट फिल्म थी–*मैं चुप रहूंगी...* महादेवी जी ने तो फिर भी बहुतेरे, उद्भट सत्य उकेरे हैं, उन्हें डीकोड करना हमारा काम है।

आत्मसंधान की धुन में घर से निकल पड़ी सब स्त्रियों से मीरां का तादात्म्य सम्भव है, पर यह बात भी अपनी जगह कायम रहेगी कि मीरां का जीवन, उस अर्थ में आधुनिक नहीं है जिस अर्थ की आधुनिकता के हम अन्वेषक हैं। पितृसत्तात्मकता और राजसत्ता के समस्त निषेध के बावजूद मीरां बोलती हैं दास्य भक्ति की भाषा ही। वे एक दोस्त की भाषा तो नहीं बोलतीं और कुमकुम संगारी की तरह औषधि–विज्ञान के शब्द उधार लेकर कहें तो उनके समस्त

रूपक *'लो–रिस्क मेटाफर्स'* ही हैं। यह समझदारी एक तरह की बचाव वृत्ति से आती है और इसका स्पष्ट संबंध सविनय अवज्ञा की भाषिक तकनीक से जोड़ा जा सकता है। रहना तो प्रतिरोधों के बीच ही है, वहीं रहकर अपनी राह बनानी है। एक विधा के रूप में कविता सात पर्दों के पीछे से ऑपरेट करने की अभ्यासी भी रही है। इससे भी मीरां को चिक की एक ओट–सी मिली। पर वहां से भी उन्होंने स्फुलिंग तो बिखेरे ही। संक्षेप में कहें तो मीरां का जीवन घर–बार छोड़कर अपने वजूद की खोज में सड़क पर निकल आयी स्त्री का जीवन है, जिसके देह–मन की वे सब दुर्गतियां सम्भव थीं, जो व्यवसाय या वजूद या अपने से ऊपर किसी अन्य की तलाश में घर से निकल आयी लड़कियों की होती है। (घर छोड़कर तो मैं ऐसे कह रही हूं जैसे घर में दुर्गति नहीं होती। होती वहां भी है। खुद मीरां की दुर्गति राजमहल में कम नहीं हुई थी। पर सड़कों के खतरे और विकट हैं। 'ताड़ से गिरे खजूर पे अटके' वाला खजूर भी नहीं हैं सड़क। कोई अटकन भी नहीं होती वहां। फुटबॉल हो जाती है औरत। अनंत हो जाता है उस पर लगने वाली शार्प किकों का सिलसिला।)

मीरां या मदर टेरेसा, या इस तरह की अन्य औरतों की बचाव–वृत्ति का एक आजमाया हुआ अस्त्र है लिंग–चेतना से ऊपर उठ जाना। पर जैसा कि कुमकुम संगारी[4] का अंतर्दृष्टिपूर्ण लेख भी बताता है, मीरां जैसी भक्त कवियों की एक समस्या है–पितृसत्तात्मक षडयंत्रों का एक घेरा तो वे लांघ लेती हैं, स्वयंवरा हो जाती हैं पर पितृसत्तात्मकता का हल्का अभ्यांतरण उनमें भी होता है। तभी तो वही दास्यभक्ति आरोपित कर देती हैं अपने कृष्ण पर भी, जिसे काट कर वे आगे बढ़ी थीं। जो शुरू में एक सखा की तरह, वर्ग–जाति आदि कृत्रिम विभेदों के ऊपर उठे एक दोस्त की तरह उन्हें आकर्षित करता था, उससे भी एक दोस्त की भाषा में वे बात नहीं कर पातीं। सिमोन द बोउवार और सार्त्र की दोस्ती मशहूर है, मगर हाल–फिलहाल बोउवार जैसी स्त्री द्वारा अपने एक अनाम प्रेमी के नाम लिखे कुछ पत्र प्रकाशित हुए हैं, जिनकी भाषा दास्य–भक्ति की भाषा है। तो क्या मुक्ति एक क्रमिक प्रक्रिया है जो कभी पूर्ण नहीं होती–एक मुसलसल सफर कि मंजिल पे पहुंचे तो मंजिल बढ़ा दी ? यहां लगातार चौकसी जरूरी है। रामभरोसे बैठकर जग का मुजरा लेने–भर से बात नहीं बनती, यहां खुद भी तलवार की धार पर चलते रहने का संकल्प साधना पड़ता है। क्या सचमुच बड़ी कठिन है डगर पनघट की? या 'चाकर राखे जी', और 'लीनो मोल' की आपसदारी मनुष्य मन की एक अंतरंग वृत्ति है, जिसका कोई निस्तार नहीं। चलिए, इतनी भी गनीमत है कि कोई एक ही हो इस धरती पर जो चाकर राख मगर 'तराजू पर तुलने' और 'मोल लिये जाने' के बाद।

मीरांबाई और अन्य स्त्री भक्त–कवि

वैसे तो 'हेजियोग्राफी' का अर्थ संतों की जीवनी होता है, पर इंग्लैण्ड में हेजियोग्राफी परम्परा के तहत ज्यादातर कथाएं (अपनी खूबसूरती से तबाह) स्त्रियों के नन बनने या बना दिये जाने के कारुणिक प्रसंगों के इर्द–गिर्द बुनी गयी हैं। इनके पन्ने पलटते हुए बुद्धकालीन थेरी गाथाएं बरबस याद आती हैं, जहां धम्म का वरण मूलतः स्वैच्छिक है।

पर पूरे मध्य एशिया और भारत में भी कई बार महिला संत धर्म को, धार्मिक संरक्षण को एक खोह की तरह भी इस्तेमाल करती दीखती हैं। जैसे चिड़िया बाजों की क्रूर फड़फड़ाहट से परेशान होकर खोह में चली जाती है, बहुत सारी महिला संत धर्म की शरण में गयीं, हालांकि इस खोह में भी सांप कुण्डली मारे पड़े थे। ताड़ से गिरे, खजूर पे अटके। चलो, अटके तो। धम्म से गिरे तो नहीं। हड्डी नहीं चटकी। एक आश्रय तो मिला। एक कद–काठी मिली। तात्कालिक मुक्ति का एहसास हुआ। एक वैकल्पिक स्पेस की नींव पड़ी, जो अपेक्षाकृत सुरक्षित और दुनियावी जंजालों से मुक्त एक प्रायः स्वतंत्र स्पेस था। आज भी है। आज भी पूरे घर में पूजाघर ही एक स्पेस होता है जहां स्त्रियां थोड़ी देर निश्चित बैठ सकती हैं हालांकि 'दूध ले लो', 'टिफिन बना दो', 'अखबार लाओ' की खटर–पटर वहां भी मचती रहती है। एक तरह से देखा जाए तो ये पूजाघर ही स्त्रियों का बैंक, डाकघर, घरौंदा, तकिया, खेल का मैदान और टेलीफोन–एक्सचेंज हैं। 'हमको मालूम है जन्नत की हकीकत, लेकिन दिल को खुश रखने को गालिब ये ख्याल अच्छा है' :

अच्दी विमुक्त हुई।
तीन टेढ़ी चीजों से
अहा, मैं मुक्त हुई
ओखली से, मूसल से
अपने कुबड़े पति से
भली ही विमुक्त हुई।
गया, मेरा निर्लज्ज पति गया
जो मुझको उन छातों से भी
तुच्छ समझता था
जिन्हें वह बनाता था
अपनी जीविका के लिए।

–सुत्तपिटक, थेरी गाथा (सुमंगला माता)[5]

धर्म भी एक छतरी ही था। धर्माधिकारी भी निर्लज्ज पति की श्रेणी में आते थे। धर्म की छतरी मरोड़–भींच कर उसका एक डंडा भी बना लिया गया था, स्त्री की पीठ पर टूटने वाला विकट दंड। यूनान और रोम के प्राचीन वैभव और पुनर्जागरणकालीन (व्यक्ति–केंद्रित) चतुर्दिक अभ्युदय के बीच काले नद–सा बहता यूरोपीय मध्यकाल कई नये परिवर्तनों का वाहक भी था। महारानी एलिजाबेथ का समय पुनर्जागरण कहलाता है, किंतु उसके पहले की अवस्था घोर सुषुप्तावस्था नहीं थी। बहुत सारी नयी संस्थाएं जग–बन रही थीं, जो किसी–न–किसी रूप में अब तक हमारे बीच जीवित हैं। इनकी एक सूची बनाने चलूं, तो लम्बी हो जाएगी, पर कुछ महत्वपूर्ण अवधारणाएं/संस्थाएं गिनाना तो जरूरी ही है जिनका सूत्रापात मध्युग में हुआ : विश्वविद्यालय, कानूनी संहिताएं, रोमानी प्रेम, आधुनिक भाषाएं, राजनीतिक सीमाएं, राष्ट्र–राज्य, व्यापारी शहर, बैंक, चेक, गोली–बारूद, कम्पास, बुक–कीपिंग, चश्मे–सब मध्ययुग की ही देन हैं।

पर मध्यकाल की स्त्री–दृष्टि शोचनीय थी। उपदेशों, आचार–संहिताओं, कहावतों, पाठ्यपुस्तकों, औषधि–विज्ञान के ग्रंथों, संत–कथाओं और रोमांसों में भी धड़ल्ले से मध्य युग स्त्रियों को कोंचता था। तीन तरह के अभियोग लगते थे स्त्री–समाज पर जिनसे ऊब कर स्त्रियां धर्म की राह चल देती थीं। पहला तो यह कि स्त्रियां बेहद भौतिकतावादी, देहवादी, भोगप्रिय होती हैं। एक मुर्गा पंद्रह मुर्गियों को यौन–तुष्टि देता है, पर पंद्रह मर्द मिलकर एक स्त्री को यौन–तृप्ति नहीं दे सकते।[6] दूसरा अभियोग यह था कि स्त्रियां भाषा का कचूमर निकाल देती हैं। झूठ बोलने, बक–बक करने, गप्प हांकने, झगड़े और फरियाद करने में। 'सिटी ऑफ लेडीज' की शुरुआत में ही क्रिस्टीन लिखते हैं कि एक झगड़ालू चंट बीवी की चांय–चांय गिरजाघर के घंटे का निनाद भी ढंक लेती है।[7] तीसरा अभियोग यह कि साज–सिंगार और दिखावे में स्त्रियों की गहरी रुचि होती है। उनका ज्यादातर समय इसमें ही बीत जाता है कि बाहरी आकर्षण कैसे बनाये रखा जाए। आंतरिक गुणों के विकास पर इनका ध्यान ही नहीं जाता। इन तीनों अभियोगों का एक ही प्रतिकार था–संत बनकर दिखा देना। ईव का चोगा छोड़कर मदर मेरी, वर्जिन मेरी का झिलमिल आवरण डाल लेना, स्त्री–काया पर, कामनाओं पर सिटकिनी–सी चढ़ा देना। घर में रहकर तो यह सम्भव नहीं था। घर से बाहर बस दो ही दरवाजे थे–एक गिरजाघर का, दूसरा चकलाघर का। पहला विकल्प दूसरे से बेहतर था, पर मजेदार बात यह है कि 'ननरी' दोनों को कहा जाता था।

सेंट ओड ने शादी की जहमत से बचने की खातिर अपनी नाक काट ली थी। एप्रिक एक मठ में रहने आयी तो मर्द वेश में। क्रिस्टिना मार्गरेट की मां ने तो प्रतिज्ञा ली थी कि उनकी जिद्दी लड़की का कौमार्य–भंग किसी तरह कोई कर दे तो उसे वे मोतियों से तौलें। उनके पिता ने कहा था कि 'परम्परा से प्रयाण की उसकी हिम्मत ही कैसे हुई, अपनी इज्जत बचा कर बाप की इज्जत सड़कों पर नीलाम करती है। एक साधारण लड़की की यह मजाल कि वह वर्जिन मेरी बनना चाहे।' एक साधारण लड़की की मजाल तब भी दुनिया देखती थी, अब भी दुनिया देखती है। साधारण की शक्ति हरदम असाधारण होती है। पूरब में, पश्चिम में, उत्तर में, दक्खिन में। परम्परा से प्रयाण करने वाली स्त्रियां हर जगह, हर समय रही हैं, पर पहले इसका एहसास सर्वव्यापी नहीं था कि 'हाय राम, कुड़ियों का है जमाना'। पहले जमाना कुड़ियों का नहीं था, गुड़ियों का था। इसलिए इक्का–दुक्का विशिष्ट संतों ने मुक्ति की चेतना पायी। अब मुक्ति का अर्थ और व्यापक हुआ है। साधारणीकरण हो गया है इसका। इस अर्थ में कि आंगन–चौबारे, गली–मुहल्ले, खेत–खलिहान, दफ्तर–कारखाने, देवालय, वेश्यालय हर जगह की स्त्री मीरां के घुंघरुओं की तरह एक नयी तरह के मुक्ति–संगीत के तबोताब में ठनक उठी है।

सोलहवीं शताब्दी की राठौर राजकुमारी मीरां मेवाड़ के सिसौदिया परिवार में ब्याही गयीं। बिन मां की बच्ची जितना प्रतिरोध कर सकती है, किया। उनके बाल–मन में कृष्ण की छवि बसी थी। मरने से पहले मां ने कभी खेल–खेल में समझा दिया होगा कि वह कृष्ण की परिणीता है तो अब वह यह मानने को तैयार नहीं थी कि बिना दोष के पहले पति को छोड़े क्यों और दूसरा ब्याह क्यों रचाए? रचा भी ले तो उसके इशारों पर क्यों नाचे, उसकी कुलदेवी क्यों पूजे, अपने हरि की तलाश में डगर–डगर क्यों नहीं घूमे, संतन ढिंग बैठ–बैठ हरि–चर्चा में रस क्यों न पाए! मंडी हाउस, विश्वविद्यालय, शोध–संस्थान, अखबार और टीवी के दफ्तरों, पुस्तकालयों के कैफे और चाय–ढाबों में आधुनिक स्त्रियां कला–साहित्य चर्चा में जो रस पाती हैं, दरअसल उसी रस का परिपाक है जो मीरां को हरि–चर्चा में मिलता होगा। 'संतन ढिंग बैठि–बैठि लोकलाज खोई' का दंश अब भी स्त्रियों की जान खा जाता है। सीधे मुंह किसी से बात की नहीं कि लोक–कम्प्यूटर में शयन–कक्ष और स्नान–गृह तक की अटकलें दर्ज हो जाती हैं!

'सूली ऊपर सेज पिया की' कहती हुई मीरां जल्पना के ऊपर कल्पना की ही प्राण–प्रतिष्ठा करती नजर आती हैं और विच्छिन्न यथार्थ के ऊपर एक सम्पन्न आदर्श लोक, एक यूटोपिया की! आधुनिक स्त्री–यूटोपिया धर्मेतर अध्याय (सबलाइम) की जो अवधारणा सामने रखता है, उससे इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि स्त्रीवाद और धर्मोन्माद सौतेली शक्तियां

हैं! अंधी आधुनिकता के दोनों विरोधी हैं, सांस्कृतिक प्रतिनिधित्व के साधनों पर दोनों की दृष्टि है, पर धर्मोन्माद उन पर असंगत एकाधिकार चाहता है। और स्त्रीवाद, ठीक इसके विपरीत, यह कामना करता है कि साधनों और अवसरों का सम्यक (प्रजातांत्रिक) आवंटन हो (सिर्फ कामना ही नहीं करता, अनवरत कोशिशें भी करता है कि यह हो)। एक और बुनियादी फर्क दोनों में यह है कि परम्परा से रूढ़ियां चुन–फटक लेने की तमीज जैसी स्त्रीवाद के पास है, धर्मोन्माद के पास नहीं! इस क्रम में महादेवी की पहल अपने एकांत को, अपने–आपको ही चीरकर दो भागों में बांटने और अपने–आपसे संवाद कायम करने की महत्वपूर्ण पहल है। दाम्पत्य के क्लेशों को लेकर लम्बा–चौड़ा शिकायतनामा दर्ज करने के स्थान पर महादेवी इक्कट–दुक्कट में निष्णात बच्ची की तरह कड़वे यथार्थ के विषम चौखटे साफ लांघ जाती हैं और कल्पित आदर्श के साथ–साथ खुद अपने से जो नया संबंध कायम कर लेती हैं, वह कम साहस का काम नहीं।

सुभद्राकुमारी चौहान ने वीर और वात्सल्य रसों को महादेवी की करुणा से अलग एक पहचान दी। यह उनका बड़ा अवदान है। रस–निक्षेप की दृष्टि से और शब्द–चयन के निकष पर भी स्त्री–कविता का परिवृत्त बड़ा करने का श्रेय उन्हें जाता है। काव्य–भाषा की जकड़न खोलने में, उसे बातचीत की भाषा के करीब लाने में सुभद्राकुमारी की कविताओं की बड़ी भूमिका है। यही काम पांच दशक पहले भक्त कवयित्रियों ने किया था, विशेषकर मीरांबाई ने। पर स्त्रियों के कामना–विमर्श की दृष्टि से मीरां की कविता महादेवी की कविता से सीधी जुड़ती है। कैसे, यह हम आगे देखेंगे।

कंकरीट की सड़कें और मीरांबाई : मनचीते पुरुष का संधान

मीरां का स्त्री–पाठ चार–पांच स्तरों पर सम्भव है : भाषा और शिल्प के स्तर पर, घरेलू राजनीति के संदर्भ में, लोक–लाज और लोक–निंदा के प्लेटफॉर्म पर और पुरुष–सौंदर्य और पुरुष–आचरण की मीमांसा के स्तर पर।

अंतिम बात से ही शुरू करती हूं। कैसा पुरुष किसी भरी–पूरी और संवेदनशील स्त्री का मनचीता हो सकता है, यह प्रश्न पिछले पचास बरस से अपने हिंदी प्रदेश में भी रुई की बुइयों की तरह हवा में हिलोरें ले रहा है। आधुनिक स्त्री की मुख्य चिंताओं में एक चिंता यह भी है कि क्या खा कर वह एक मरखंड, गरियंडे, उद्धत–उद्दंड और हिंसक पुरुष से प्यार करने का जज्बा जगाये। धर्म–भाव से किसी पर करुणा बरसायी जा सकती है, सेवा–उपचार और स्नेह उंड़ेला जा सकता है। पर प्रेम एक जिद्दी एहसास है। उस पर जबर्दस्ती नहीं चलती। वह

किसी की नहीं सुनता। समर्पण इतना विराट भाव है कि हर ऐरे–गैरे, नत्थू–खैरे के आगे वह घटने से रहा।

साहचर्यजन्य स्नेह तो सम्भव है। लगातार पीछे पड़े रहिए, तो ऊबकर या दया–विगलित होकर स्त्री आपसे दो बोल बोल सकती है। पर बहुधा वे बोल प्रेम के नहीं, स्नेह और सद्भाव के होते हैं। 'याचना' का उत्तर 'दान' तो हो सकता है, समर्पण नहीं। अपना समय, अपना साथ किसी को मानवीय धरातल पर भी दिया जा सकता है। उसको ही प्रेम समझने की भूल पुरुषों से होती रही है। बौद्धिक या आत्मिक सत्संग की खातिर सड़क पर आयी स्त्री को प्रणय–निवेदन के लिए स्वतंत्र घूमती स्त्री समझ लेने की भूल एक आम भूल है। मीरां उसका अच्छा प्रत्युत्तर देती हैं–'अच्छा तो तुम भी पुरुष हो'...। लिंग चेतना से मुक्त करने वाली निरपेक्षता पुरुषों के हिस्से बहुत कम आती है, क्योंकि उनके मन में युगों से बैठाया गया है कि स्त्री और जमीन कब्जा करने की चीजें हैं। सत्संग के लिए, बौद्धिक–आत्मिक विमर्श के लिए पास आयी स्त्री भी उन्हें सिर्फ देह दीखती है और स्त्री की स्थिति यह कि ताड़ से गिरे, खजूर में अटके।

अभगलो गइलन बरियात, उहऊं मटठा भात!

लोक–मंडल की बात तो चलिए बाद में करते हैं। युगों तक स्त्रियां मरती, क्या न करतीं, या 'जो मिल गया, उसी को मुकद्दर समझ लिया' के भाव से कुटिल–खल–कामी पतियों की भी सेवा करती गयीं। लेकिन, हां, सेवा ही, प्रेम नहीं। प्रेम के लिए पात्रता चाहिए। कोई तो बात हो जो अभिभूत कर दे। मसलन कि संयम और शालीनता जो पुरुषों में सबसे नायाब होती है। जैसा कि पहले भी कहा, आप सोचकर देखिए कि स्त्रियां शंकर या बुद्ध जैसे जोगियों की ओर क्यों आकृष्ट होती हैं। इसलिए कि वे उनके पीछे नहीं पड़ते, स्वयं को स्वयं में ही धारण करके धैर्यपूर्वक दूसरों का दुख दूर करने का धीरज उनमें होता है। काम–क्रोध–लोभ के अतिरेक से पीड़ित व्यक्ति से प्रेम कर पाना असम्भव है–खासकर मीरां जैसी संवेदनशील स्त्री के लिए जिसके मन में बृहत्तर संधान पक चुका है, कोई और भी धुन बज रही है।

प्रेम के लिए नैतिक परिष्कार पहली शर्त है। डाकू से भी प्रेम होता है। क्यों नहीं होता ! लेकिन उस डाकू से जो दानी है, एक तरह का रॉबिनहुड; एक तरह का गॉडफादर। प्रेम आदर्श से ही सम्भव है। समझा तो स्त्रियों ने पहले भी होगा, पर हब्बा खातून, अण्डाल, लल्ल देद, अक्क महादेवी, जनाबाई, बहिनाबाई, मीरांबाई आदि भक्त कवयित्रियों ने डंके की चोट पर पहले–पहल यह कहने का साहस किया कि आस–पास जैसे अबंड पुरुष दीखते हैं, काम्य नहीं हो सकते। हमें तो कृष्ण या शिव जैसा कोई योगी चाहिए। एक यूटोपिया, एक काल्पनिक

विकल्प ही हैं देवता, और क्या हैं! दानवीर, कर्मवीर, स्थितप्रज्ञ, न्यायप्रिय हो कोई, सारे विकारों से मुक्त तो हम खुलकर उसका वरण करें : आत्मा स्वयं अपना स्वयंवर रचाए, एमिली डिकिंसन के शब्दों में कहें तो : *द सोल सेलेक्ट्स इट्स ओन सोसाइटी*।[8]

सच पूछिए तो काम्य पुरुष और पुरुष–आचरण का एक खांचा, एक ब्लू प्रिंट–सा देती है मीरां की कविता। थोड़ा–सा रूप–वर्णन तो वह करती है, लेकिन असल आकर्षण का स्रोत कृष्ण का लोकरंजक स्वरूप है : दीन–दुखियों के सहायक, लीलामय, पुरमजाक, संगीतपटु, अहिंसक, स्थितप्रज्ञ, रणछोड़ की लालित्यमय छवि ही क्यों मीरां को भाती है, समझने की बात यह है। मीरां का समय हमारे समय की तरह ही एक युद्ध–कातर और हिंसा–विह्वल समय था। ऐसे में हर राजपूत कन्या से अपेक्षा की जाती थी कि वह हाड़ा रानी की तरह थाल में सर रख कर प्रस्तुत कर दे ताकि मोह से मताया पुरुष निश्चिंत युद्ध जीतने चला जाए। पर मीरां एक ऐसे गढ़ंत, एक ऐसे कंसट्रक्ट का वरण करती हैं जो धर्म–युद्ध को अंतिम उपाय मानता है, और ऐन युद्धभूमि में लगता है गीता बांचने यानी साहित्य–कला–दर्शन का आश्रय वहां भी नहीं छोड़ता; और खुद के लिए जिसका प्रण है कि वह हथियार नहीं उठायेगा, मनोवैज्ञानिक युद्ध लड़ेगा, भाषा ही जहां हथियार बनती है।

यहीं हम उठाते हैं भाषा–शैली का प्रश्न। मीरां का युद्ध भी एक मनोवैज्ञानिक युद्ध है, जहां भाषा हथियार बनती है। एक स्त्री के पास भाषिक हथियारों के सिवा कौन से हथियार होते हैं भला! और किसी भी मनोवैज्ञानिक युद्ध में वे ही हथियार काम भी आते हैं : अलग–अलग टोनल वैविध्य या स्वर–भंग के साथ अभिधा, लक्षणा, व्यंजना–तीनों की ताकत आजमाती हुई साधनहीन स्त्रियां भी सड़क पर अपनी बचाव–वृत्ति में मंचित कर लेती हैं। कुएं पर, पानी के नलके पर, राशन की क्यू में, सरकारी अस्पताल के क्यू में, जंगल–पहाड़ पर, मिल में, फुटपाथ पर समोसा–नमकीन बेचती हुई स्त्रियों की भाषा के कई जानदार मुहावरे तो खुद मैंने नोट किये हैं। कोई भी कर सकता है यदि उनसे अंतरंग बातचीत गांठे, उनसे दोस्ती करे। अक्क महादेवी और मीरांबाई के साथ मुश्किल यह थी कि सड़क पर आने के पहले सड़क का जीवन उन्होंने देखा नहीं था। वे महलों से सीधी सड़क पर चली आयीं। महलों में या किसी भी सामंती बंदिश में रहने वाली स्त्रियां कैसे वाक्य बोलने की अभ्यासी होंगी, जरा ठहर कर सोचें : आदेशात्मक वाक्य जिसे अंग्रेजी में इम्पेरेटिव मूड का वाक्य कहते हैं या फिर कोई अच्छा दृश्य देखा या कोई कथा सुनी तो विस्मयादिबोधक वाक्य!

पर मीरां की भाषा किसी पद्मिनी नायिका की वैभविदग्ध, व्यंजनाबोधी भाषा नहीं है। ज्यादातर पद अभिधा की ताकत का खासा बेधक प्रयोग लेकर सामने आते हैं। सामान्य स्त्री

की खरी–खरी बातों का जायजा वहां मिलेगा। कोई लाग–लपेट नहीं, कोई कताई–बुनाई नहीं, कहीं–कहीं ही रूपक और बिम्बन का तबोताब है। पर उसकी बात बाद में करेंगे, पहले इन धड़ से सुना दी गयी बातों का मर्म समझें :

नहिं भावै थारो देसलड़ो रंगरूड़ो।
लोग बसै सब कूड़ो।
थारे देसां में राणा साध नहीं छैं,
त्याग्योर से चूड़ो।
गहना–गाठी राणा हम सब त्यागा,
काजल टीकी हम सब त्यागा, त्याग्यो छै बंधन जूड़ो।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर, बरपायोछै पूरौ।[9]

सिंगार–पटार और स्त्रीसम्मत विशिष्ट अनुभूतियों की चर्चा पग–पग पर है; पर लगातार यह एहसास बना हुआ है कि मनमोहन का मन सामान्य गहने–कपड़ों से थोड़े जीता जाना है। वह सामान्य पुरुष नहीं, कोई सामंत नहीं, उसको तो भायेगा :

ओडया लज्जाचीर, धीरज को घाघरौ
छिमता कांकण हाथ, सुगमत को मूंदड़ो
दिल दुलड़ी दरियाव सांच को दोवड़ौ
उबटन गुरु को ज्ञान, ध्यान को धोवणौ
सांवलिया सूं प्रीत, औरां सूं आखड़ी।[10]

विशिष्ट अनुभूति के क्षण रूपक तो नहीं, लेकिन उपमानों की एक झड़ी–सी लग गयी है। वहां कल्पना दो धरातलों पर लगातार काम कर रही है : आकाश और धरती के बीच जैसे लगातार सुधियों की बारिश हुई हो। (बारिश के नाम से याद आया कि रेगिस्तान में जन्मी यह स्त्री, अपने घनश्याम की चर्चा, उसके मोरपंख की चर्चा, पपीहे की चर्चा में विशेष सुख पाती होगी।) भावनाओं का एक सुखाड़ ही है, जिसके प्रत्युत्तर में मीरां की कविता 'सावन के घन' की आतुरता से स्त्री–जगत के प्रत्यक्ष अनुभवजगत (कोड) के आकाश में उमड़ी। चरखा, मटका, चूल्हे की आग वगैरह की चर्चा भी पग–पग पर है। नाच–गान की अलग मुद्राएं और स्वरलिपियां भी हैं ही। 'लियो जी तराजू तोल' आदि पदों में खोमचा–कबाड़ी आदि से घरेलू क्रय–विक्रय वाले जीवंत प्रसंग हैं और स्त्री भाषा का वह आनन्दतिरेक भी जिसे न कोई उपदेश झाड़ना है, न ज्ञान बघारना है। एक प्रतिकूल परिवेश में अनुभव से अर्जित आत्मज्ञान डंके की चोट पर, बिना किसी कुहेलिका के मीरां सामने रख देती है–

बादल देख झरी हो, स्याम मैं बादल देख झरी।
काली–पीली घटा उमंगी, बरस्यो एक घरी,
जित जाऊं तित पानिहिं पानी, हुई सब भोम हरी।
जा का पिव परदेस बसत है, भीजै वर खरी।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर, कीज्यो प्रीत खरी।[11]

मीरां ने खरी प्रीत की थी। वे हर जगह बरस जाने वाली बदली नहीं थीं। एक के बहाने सारी सृष्टि अच्छी–अच्छी लगने लगे, यह बात अपने–आप में दुरुस्त है, पर अच्छी–अच्छी लगने का मतलब स्नेह–सद्भावपूरित होना है, सर्वस्व समर्पण नहीं। सर्वस्व समर्पण की जिद तो कभी करनी ही नहीं चाहिए। होना होगा तो वह स्वयं घटित होगा। सर्वस्व समर्पण दाल–भात का कौर नहीं है। जो ओस चाट कर, अलग–अलग जगह बिखरी बूंदें चाट कर प्यास बुझा लेने की एषणा रखते हैं, उनको मीरां जैसी बागी संत कवियों की एक ही सलाह है कि 'धीरज' का घाघरा धारें और लज्जा का चीर।' ओस चाटने से प्यास नहीं बुझती। अधीर न हों, इंतजार करें। 'धीरज' का घाघरा चुन्नटदार है, उसका घेरा अनंत है, पर उसको धारे बिना यूटोपिया नहीं मिलता, कोई आदर्श नहीं मिलता। जो चट से मिल जाए, वह माया है। सत्य वह है जो अर्जित किया जाए। क्षमता का कंगन और सुमति की अंगूठी धारण करके ही सत्य से मिला जा सकता है, पर सत्य–संधान के पहले छोटे लोभों की मैल ज्ञान के उबटन से छुड़ानी होगी और दिल को दरिया करना पड़ेगा। नेकी कर और दरिया में डाल। बहता पानी निर्मला। किसी भी यूटोपिया, किसी भी सत्य का संधान एक तपस्या है।

सत्य कब मिलेगा, यह तो तय नहीं है। पर सच्चे संधान की प्रक्रिया में हैं आप तो हो सकता है वह आर्किमिडीज की तरह पानी में, टब में अन्यमनस्क भाव से नहाते हुए आपके मन में अचानक कौंधे, एक आइडिया की तरह, एक आइडिया, एक विचार जो दुनिया बदल दे, आपके सारे प्रश्नों का हल ढूंढ़ने में आपकी मदद कर दे और आप मीरां की तरह, आर्किमिडीज की तरह, अक्क महादेवी की तरह एकदम से सड़क पर दौड़ जाएं, यूरेका–यूरेका कहते हुए, बल्कि गाते हुए, जैसे मीरां गाती हैं।

मीरां की कविता यूरेका की कविता है, सब भक्त कवियों की कविता
यूरेका की कविता है। लम्बे चिंतन–मनन के बाद, मन में लगातार मथानी चलाने के बाद के बाद जो अवक्षेपित होता है, उस नवनीत में जीवन का सार, जीवन की स्निग्धता तो होगी ही, उतनी ही भारहीनता भी होगी। बहुत फिंटी हुई बड़ी हलकी हो जाती हैं। फिंटे हुए बेसन, मन, मक्खन का हलकापन क्लिष्ट विचारों से उद्भूत सरल प्रमेयों में भी होता है। भक्त कवि इस

सरलता का 'अमरित' चखकर ही बड़े होते हैं, इतने स्निग्ध और इतने सरल। सरल होना दुष्कर है, बहुत–बहुत दुष्कर। येट्स की कविता के तीन चरण इसका प्रमाण हैं। सरल रेखा या पूर्ण शून्य खींच पाना पिकासो जैसे बड़े चित्रकार के लिए ही सम्भव है। सरल रेखा दो बिंदुओं के बीच की निकटतम दूरी है। वक्रता दूर करती है, अपने ही लक्ष्य से, अपने ही यूटोपिया से, अपने प्रियतम से। यह बात भी मीरां की कविता अपने पूरे बांकपन में सामने रखती है, बांकपन कहीं–कहीं है, भ्रू–भंग भी है ही–लेकिन है वह मध्यावधि अवस्था ही। अंतिम बात अकाटय सरलता है। सत्य है तो सरल होगा ही, कम–से–कम आयतन घेरेगा, कम–से–कम शब्द कहेगा जैसे मीरां की कविता कहती है। बहुत लम्बे–चौड़े भाष्य का कोई स्कोप ही नहीं बनता। मन मस्त हुआ तो क्या बोले।

सरलता का उत्स एक मग्न किस्म की आपसदारी है और बृहत्तर दुनिया से अपना सुख साझा करने की उमंग भी। उमंग भी हमेशा सरल होती है, नंगे पांव दौड़ा देने वाली–'आवत ही हरषें नहीं, नैनन नहीं सनेह/तुलसी वहां न जाइए, कंचन बरसैं मेह।' कहां नहीं जाना है, इस विवेक से परिचालित है स्वाधीनता। सच्ची स्वाधीनता हमेशा विवेक से, संयम से संचालित होती है। पर वह विश्लेषण करने नहीं बैठ जाती। अगर किसी को राह सुझाती भी है तो इशारों में। इशारे समझने की जिसमें पात्रता चाहिए। पश्चिम की भक्त कवयित्रियों से लेकर अपने यहां तक की भक्त कवयित्रियों में यह विवेक है। इसलिए उनकी कविता ज्ञानबोझिल, दर्शनबोझिल नहीं है। उसमें सार–संक्षेप है, निष्कर्षों का गाम्भीर्य, विवेक का गाम्भीर्य, एमिली डिकिंसन कहती हैं :

यह मेरी चिट्ठी है दुनिया को, जिसने कभी मुझे लिखा नहीं वापस![12]

यह संवाद की एकतरफा पहल है, एक तरह का एकालाप। जिसमें पात्रता होगी, इसका मर्म खुद ही समझ लेगा।

अब आते हैं घरेलू राजनीति और लोक–लाज वाले पक्ष पर। मीरां के कई पद भाई, सास, देवर और ननद ऊदाबाई को सम्बोधित हैं :

ऊदाबाई मन समझ जाओ अपने धाम
राजपाट भोगो तुम ही हमसे न तासूं काम

डॉ. पद्मावती शबनम मीरां की ननद, ऊदाबाई की तरफ से गाया हुआ एक पद गाती हैं :

थाथो बरज–बरज मैं हारी,
भाभी मानो बात हमारी।

राने रोस किया था पर साधो में मत स्त्री।
कुल को दाग लगै छै भाभी, निंदा हो रही भारी।
साधो के संग वन–वन भटकी, लाज गंवाई सारी,
बड़ा घरा में जनम लिए छै नाचौ दे दे तारी।[13]

इस जैसी समस्त सलाहों और डांट–डपट के प्रतिकार में मीरां हंसकर अपनी बात रखती हैं, सहज भाव से रखती हैं, बहनापे के भाव से रखती हैं। उनका बहनापा द्रौपदी और भीलनी तक से जुड़ता है। सड़क पर हुए विकट अनुभव अपने कई पदों में वे साझा करती हैं : वे उन्हें बताती हैं कि सड़क का जीवन जीते हुए खल–कामियों से वे कैसे निबटीं :

विषयी कुटिल एक भेषधारि साधु लियो।
कियो यों प्रसंग मोसों अंगसंग कीजिए।
आज्ञा मोको दई आप गिरधारीलाल।
अहोशीष यदि लई करि भोजन हूं लीजिए।
असमनि समाज में बिछा लेजि बोलि लियो
सक अब कौन की निंदक रस भीजिए।
खेत सुख–भयौ, विषै भाव सब गयो,
तयो वाचन तै आप, मोनो भक्तिदान दीजिए।[14]

यह पद लक्षण और व्यंजना की पराकाष्ठा है। जिसे अशोभन प्रस्ताव (इंडीसेंट प्रपॉजल) कहते हैं, उससे स्त्रियां कैसे निबटें, इसके कुछ सूत्र आपको यहां मिल जाएंगे। मीरां से किसी ने कहा, स्वयं गिरिधर के आदेश से मैं आपके पास आया हूं, आप मेरे साथ रमण करें। मीरां सुंदर थीं। स्त्री थीं। सड़क पर थीं। राह चलते ऐसे शोहदे मिलते ही रहे होंगे। सिद्धहस्त भाव से उन्होंने कहा, 'धन्य भाग मेरे, प्रभु का आदेश है तो यहीं सबके सामने आप सड़क पर सेज सजाएं और रमण करें।' उसे पानी–पानी तो होना ही था।

न मारा, न पीटा, न हाय–तौबा मचायी, बस एहसास कराया कि मैं तो तुम्हें जान ही गयी हूं, तुम भी मुझे जान लो। स्वयं में झांको, क्या तुम मेरे योग्य हो? राह चलते मोह जाने वाला भोगी/लोभी क्या जाकर तेजस्वी स्त्री के योग्य हो पायेगा? फर्स्ट डिजर्व, देन डिजायर।... ठीक है, आदमी हो, कामना जग ही गयी तो कोई बात नहीं। काबू करो। अपना उन्नयन करो, योग्य बनो और करो इंतजार कि कोई स्त्री तुम पर आसक्त हो : 'ख़ुदा बंदे से खुद पूछे, बता तेरी रज़ा क्या है!' इस प्रसंग में पहल स्त्री को ही करनी चाहिए। पुरुष का काम है योग्य बनकर इंतजार करना।

एक जगह अक्क महादेवी कहती हैं : मेरी देह ही मेरी गुरु है। औरत की देह ही उसका गुरु है। उसके अनुभव ही उसके गुरु हैं, अनुभव जो ज्यादातर खट्टे–कड़वे ही होते हैं। आप तो गयीं सत्संग के लिए, इस भाव से गयीं कि कुछ सीखने को मिलेगा, और गुरु है कि उसे आपकी देह के आगे कुछ दीख ही नहीं रहा। यदि गुरु ऐसा नहीं है तो जो लोग आपको गुरु के पास जाते, उससे मिलते देखते हैं, वे ही घनचक्कर हैं। 'संतन ढिंगि बैठि–बैठि लोकलाज खोई।' वह तो खैर कहिए कि किसी शोहदे ने सीता का नाम वाल्मीकि से नहीं जोड़ा, वरना अटकलें लगाने को कोई कुछ भी लगा सकता है। दिमागी विकृति का कोई इलाज थोड़े ही है। जिन्हें आपने बरजा–डांटा हो या जिन्हें ध्यान देने लायक नहीं जाना हो, वे तो आपको नीचा दिखाने की हर सम्भव कोशिश करेंगे ही। यह कोशिश कुछ देर की खातिर आपको दुःख देगी, पर फिर आप सोचेंगी, 'और कोई जाने–न–जाने, मैं स्वयं को जानती हूं। सत्य अपना प्रमाण खुद है, जब मैंने कोई ओछा काम किया नहीं, क्यों चुप हो बैठूं, क्यों इनकी बात का असर लूं–हाथी चले बजार, कुत्ता भूंके हजार'–

कोई निन्दो कोई बिन्दो
मैं चलूंगी चाल अनूठी।

अन्य आयाम : महादेवी के लेंस से

आधुनिक हिंदी कविता की मीरां कही जाने वाली महादेवी अपने जीवन के अंतिम दशकों में मीरां का जो पाठ प्रस्तुत करती हैं, वह उनके अपने अवचेतन, अपने युग के अवगुंठनों पर भी उतना ही प्रकाश डालता है जितना मीरां के पाठीय अवचेतन और उनके देशकाल पर। निम्नांकित पंक्तियों के साक्ष्य से मैं यह कह पा रही हूं–

- कर्त्तव्य के लिए परम साहस के साथ सभी कष्टों को सहना ही यहाँ की स्त्री का धर्म रहा है।... अनबोले ही स्त्री उस युग में बलिदान देती है।...मीरां का काव्य इस यशस्वी वीर स्त्री के चरणों का रक्तचिन्ह है जिसमें गौरव है, सौंदर्य है और पवित्रता है। (गौरवमय चुप्पी और डिग्निफायड सफरिंग के छायावादी आदर्शों का, पवित्रता और बलिदान का महिमान्वयन)।
- मीरां ने विष को अमृत बनाकर, भक्तिगीतों में ढाल कर अमृत–प्रसाद को जन–जन में बाँट दिया है। (सर्जनात्मकता का उन्नयनकारी पक्ष, छायावादी सौंदर्यशास्त्र के अनुकूल)।
- आज श्रीकृष्ण का रास हो रहा है, मीरां का जन्म इसी रास पूर्णिमा के दिन होना चाहिए।... जन्म तो हम भावना से लेते हैं, शरीर का जन्म आगे–पीछे भी हो सकता है। हमारा

मन भावना में ही जन्म लेता है। जो क्षण हमें भावना में मिल जाता है... उस क्षण के लिए हम समग्र जीवन जीते हैं... मिट्टी हटाते–हटाते अचानक हमारे हाथ में एकाध हीरक कण उपलब्ध हो जाता है... हमारा तुच्छ अहं उस विराट समष्टि अथवा उस समष्टिकर्ता निर्माता के साथ एकाकार अथवा अखण्ड बन जाता है। (कल्पना में ही यथार्थ का अनुकूलन, पुनर्नियोजन)।

✳ राजनीतिक–सामाजिक पराजय का प्रभाव मुख्यतः तत्कालीन शासक वर्ग पर ही पड़ता है; ज्ञानियों, संतों और भावनाप्रधान संसार की झंझटों से दूर रहने वाले वर्ग पर इसका अधिक प्रभाव पड़ना कम सम्भव है, अतः भक्ति आंदोलनकर्ताओं पर विदेशी आक्रमणकारियों के समक्ष हार का प्रभाव पड़ने की चर्चा अर्थहीन–सी लगती है। (भक्ति और सर्जना की दुनिया को स्वयंसमर्थ, सामाजिकता के आग्रहों से ऊपर मानने का छायावादी आग्रह)।

✳ मनुष्य की चेतना से आप परिचित ही हैं। यह एक चेतना नहीं है, अपितु यहाँ चेतनाओं का संधान है... मनुष्य के साथ समस्त प्रकृति अधूरी है। कहीं सुषुप्त चेतना है, कहीं प्रसुप्त–चेतना, कहीं अवचेतना है तो कहीं पराचेतना। मानव के चित्त में सारी चेतनाएँ हैं... आज का मनोविज्ञान पराचेतना की स्थिति स्वीकार नहीं करता... मानता है कि संसार अवचेतना में रहता है... यदा–कदा चेतना के स्तर पर जाग पड़ता है। इस सिद्धांत का भी धर्म पर प्रभाव पड़ा है। किसी–न–किसी चेतना के हम सब अवतार हैं। (मनुष्य और प्रकृति/ब्रह्मांड के अवयवों को अंतःसंबद्ध संज्ञान मानने वाला छायावादी दर्शन)।

✳ अवतारवाद ने अर्द्धस्त्रीश्वर के पुरुष–स्त्री को अलग कर दिया।... कबीर ने सबको फटकारा (अन्य भक्त–कवियों ने दैन्य दिखाया)–मीरां माधुर्य में रमी रहीं : सिद्ध–समाज की ज्ञानचर्चा में भावनाएँ नहीं बाँधीं (सारांश मेरा)।

✳ स्वयं मैंने विद्रोह के गीत लिए थे, वे सब गीत अब खो गये हैं। विद्रोह चिरकाल तक ठहर नहीं सकता... जब विद्रोह समाप्त हो जाता है, विद्रोह के गीत प्रायः भुला दिये जाते हैं... मीरां का विद्रोह भी मधुर है, मीरां किसी के प्रति कोई राग–द्वेष नहीं रखतीं।... गाँधीजी ने 'भारत छोड़ो आंदोलन' में अंग्रेज जाति को यहाँ से चले जाने का आग्रह किया था, मगर मीरां ने किसी को हट जाने का इशारा नहीं किया।... उन्होंने प्रेम, करुणा, भक्ति, कर्त्तव्य, ब्रह्मचर्य, संयम और अपरिग्रह के उदात्त गुण जीवन में उतारे (शाश्वत और कालातीत होने का छायावादी आग्रह)।

✳ मीरां के गीतों में भारतीय विधवा के चिन्हों का अभाव है। उन्होंने तो कहा है–मो भावे पचरंग चीर रँगाऊँ, पचरंग चोला पहनूँ–झुरमुट खेलन जाऊँ। (आशय : भारतीय विधवा कामनातीत होती है)। मीरां के गीतों में न केवल विरह है, न केवल विद्रोह... उनके गीतों में सभी मनोभावों का मधुरतम चित्रण पाया जाता है : संयोग–शृंगार, ज्ञान–चर्चा... जो कुछ मीरां कहती हैं, उसमें मधुर भाव है, कहीं भी द्वेष, क्रोध या चिढ़ की हिंसा नहीं है। अन्य भक्त कवियों के काव्य में तो यदा–कदा नाराजगी की आंशिक हिंसा भी झलक जाती है। जैसे गोपियाँ कहती हैं कि पपीहे की चोंच मरोड़ दी जाए, कोयल के पंख नोच डाले जाएँ, क्योंकि वे श्रीकृष्ण के बिना भी बोल पड़े... मीरां के विरह गीत इतने अहिंसक और आत्मपरक हैं कि इनकी तुलना किया जाना भी कठिन है। (गाँधीवादी आग्रह)।

✳ जिस बादल में पानी नहीं होता, उससे बिजली पैदा नहीं हो सकती। पानी से भरा बादल ही बिजली का दाह सँभाल सकता है। अकेला शौर्य मंगलमय नहीं होता।...मीरां के हृदय हार से ही भारतीय हृदय का विकास हुआ है। (सुप्रा–रैशनल तत्त्व की स्थापना)।[15]

ध्यान से पढने पर स्पष्ट है कि महादेवी ने सविनय अवज्ञा के युगीन आदर्श के रूप में मीरां का एक पाठ प्रस्तुत किया, समकालीन स्त्रियाँ परेशानियों के आलोक में पाठीय अवचेतन अलग ढंग से टटोलकर बहनापे की शृंखला आगे बढ़ा सकती हैं। पर इन दोनों विखंडनों के पहले, भूमिका के रूप में, थोड़ी–सी चर्चा मीरां के अपने देश–काल, उनके अपने नैतिक भूगोल की, जिसने उन्हें रचा।

मीरां के जन्म के समय बाबर ने समरकंद फतह किया था। दो विफल आक्रमणों के बाद भारत में अंततः उसने पैर जमा लिए थे। मीरां के मेवाड़ से मेड़ता जाने के ठीक दो वर्ष बाद (1531 में) हुमायूँ राजगद्दी पर आया और लगातार शेरशाह सूरी के आक्रमण झेलते हुए अंततः उससे हार भी गया। शेरशाह के राजकाल में ही मीरां ने शरीर छोड़ा। ... इस बीच राजस्थान के राजपूत घराने न सिर्फ मुगलों से बल्कि आपस में भी लगातार लड़–भिड़ रहे थे।

बाहर की दुनिया से हार–थककर, चिढ़ कर घर लौटा आदमी औरतों की क्या गत करता है, सबको पता है। एक तरफ कुल–मर्यादा, कुल गौरव के नाम पर बालिका–वध, सती, विधवा–विद्वेष, दूसरी तरफ मैट्रिमोनियल अलायंस के रूप में भेड़–बकरियों के बथान के रूप में रनिवासों का विकास। वीर–प्रसविनी बनना ही तब स्त्रियों का मूल धर्म था। ऐसे में स्वाभाविक है कि पति की अंकशायिनी बनने से साफ इनकार करने वाली स्त्री या तो बावरी (पागल) करार कर दी जाएगी या पुंश्चली। सुहाग–चिन्हों और अनुरागोन्माद के कई लक्षणों की मीरां के काव्य में एक दमकती हुई–सी उपस्थिति है। इसीलिए महादेवी वर्मा का संस्कारी मन यह मानने के

लिए राजी नहीं होता कि मीरां वैधव्य–शापित थीं, जबकि प्रोफेसर विश्वनाथ त्रिपाठी जैसे कई आचार्य मीरां–काव्य को विधवाविमर्श की तरह ही पढ़ते हैं। उन्हें यह मानना मर्यादासम्मत दीखता है कि पति की तो वे आदर्श पत्नी थीं, उनका दाम्पत्य जीवन भरा–पूरा था, किसी कारण सती नहीं हो पायीं और परिवार के अन्य जन निष्ठुर हुए, तब उन्होंने भगवद्भक्ति में मन रमा लिया। यानी वे दुनिया पूरी तरह ही ट्रांसेंड कर गयीं; पर लोग हैं कि बात बनाते रहे क्योंकि विधवाओं और वेश्याओं के लिए एक ही सम्बोधन था–रॉंड।

आधुनिक पाठक के लिए वैधव्य के दुर्गिंजन से मुक्ति पाने को छटपटाती स्त्री के फ्रेम में 'सूली ऊपर सेज पिया' के विराट अर्थ–गौरव का संकोचन खासा कठिन है। 'मजबूरी का नाम महात्मा गाँधी' वाली बात। सती न हो पाने का दाह कविता को ही मीठी आँच वाली सेज बना गया–मीरां जैसे विराट व्यक्तित्व की महिमा से यह स्थापना मेल नहीं खाती। निर्णय की स्वाधीनता का तेज जिसमें ऐसा प्रखर हो, वह भला धुआँएगा क्योंकर! जो करना होगा, कर गुकारेगा (प्रतिकारवश), पार्वती की तरह अग्निकुंड में कूद कर या सीता की तरह धरती में धँस कर।

महादेवीजी की इस स्थापना में बल है कि मीरां की कविता में कभी एक क्षण भी किसी दैन्य, किसी अपराधबोध, किसी डाँट–फटकार की आहट नहीं है। न वे कबीर की तरह की अक्खड़ उपदेशमयता से कीलित हैं, न सूर–तुलसी की तरह दग्ध विनय से। विष को भी अमृत बना लेने वाला माधुर्य है यहाँ। 'राणाजी ने भेजा विष का प्याला/पी गयी मीरां हाँसी रे' में या ननद को सम्बोधित पदों में एक हलका–सा तंज तो दिखाई देता है, लेकिन देवर–भाभी या ननद–भाभी वाले संबंध का माधुर्य वहाँ भी झिलमिलाता– सा है। पदों की गीतात्मक विधा में आत्मकथा के प्रसंगों की कौंध स्त्रीसुलभ मधुर हास्य के साथ छौंक देना मीरां के लिए ही सम्भव था।

मीरां और भी तरह से मीठे हास्यबोध का पता देती हैं : 'बदनामी लागे मीठी।' 'निंदो चाहे बिंदो' का यह मस्तानापन हर्षातिरेक की पराकाष्ठा है। 'गोविंद लीनो मोल' के रूपक का विस्तार भी वे मेटाफिजिकल व्यंग्य–विनोद के साथ करती हैं–'कोई कहे मँहगो, कोई कहे सुहलो, लियो जी तराजू तोल।' लॉरेंस 'कैप्टेंस डॉल' में लिखते हैं कि स्त्रियों की मुसीबत यह है कि वे पुरुषों को गुड्डा बना लेना चाहती हैं। स्त्रियाँ भी पुरुषों पर यह अभियोग लगा सकती हैं कि पुरुष ही नहीं, घर वाले भी उन्हें गुड़िया समझते हैं। महादेवी वर्मा ने इस पर सहज आपत्ति उठायी है कि वीरता के पुरस्कार के रूप में कन्या का दान गरिमामय नहीं था। स्त्री या पुरूष : किसी का पण्यीकरण (कमौडिफिकेशन) बुरा है, पर मीरां जिस खरीद की बात करती हैं,

उसमें जॉन डन वाला मेटाफिजिकल विट चमक रहा है। मोल ली हुई चीज डंके की चोट पर अपनी हो जाती है : उसे न कोई छीन सकता है, न उस पर कोई दावा ठोंक सकता है, फिर यह ऐसी–वैसी खरीद तो है नहीं, अपना वजूद देकर यह अमौलिक वस्तु खरीदी गयी है, इसलिए यह और अनमोल और अविभाज्य है।

इस तरह के विटी प्रयोग एमिली डिकिंसन के यहाँ भी बहुत मिलते हैं। कोर्ट–कचहरी से लिया गया 'एफिडेविट' जैसा शब्द भी उनके यहाँ एक विशिष्ट अर्थगौरव पा जाता है : *नर्क से कोई आत्मकथा नहीं लिखी किसी ने, और स्वर्ग का हलफनामा नहीं था।*

स्त्रियाँ ऐसे प्रयोगों में निपुण होती हैं क्योंकि कॉस्मिक और कॉमनप्लेस के बीच कोई पदानुक्रम वे नहीं मानतीं। आत्मीयता का विस्तार उनकी भाषा को एक सहज प्रजातांत्रिक, संवादधर्मी गौरव देता है। पदानुक्रमकीलित नहीं होता उनका संसार। ऊँच–नीच–सारे प्रसंगों को एक चटाई पर बिठाकर उनसे अपना सुख–दुख बतिया लेने की आत्मप्रवाही सहजता ही उन्हें 'लोक और शास्त्र' के बीच का पदानुक्रम तोड़ने में भी मदद करती है।

'पग घुँघरू बाँध मीरां नाची रे' में भी एक हलका–सा विनोद है। अमृतलाल नागर का 'सुहाग के नूपुर' बताता है कि गणिकाओं के मन में सुहाग के नूपुर की कितनी साध होती थी, क्योंकि घुँघरू ही उनके हिस्से आये थे। घुँघरू की झंकार सघनतर होती है, लोक को निवेदित कि सुनो भाई लोगो, यह मैं हूँ। डंके की चोट पर अपने स्वतंत्र वैभव का उद्घोष करती हुई एक कॉस्मिक नृत्य मीरां जो नाची हैं, उसकी टंकार आज के स्त्री–साहित्य में भी जीवित है। जीवित है यह ठस्सा कि कुलवधू वाले नूपुर की मीठी–सी रुनझुन में नहीं, डंके की चोट पर मैं अपनी मुक्ति का जश्न मनाऊँगी। फ्रेंच मनोवैज्ञानिक इरिगेरी ने स्त्री–भाषा में जिस मिमिक्री की आहट सुनी थी, सबको धता बताकर आगे निकल जाने वाली वह नटखट त्वरा यहाँ सहज गूंजती है।

इसी तरह 'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई'–यहाँ एक के स्वीकार में सारी दुनिया का निषेध, पितृसत्ता, राज्यसत्ता, सबका निषेध शामिल है जो उस समय के लिए बड़ी बात थी। यही नहीं, एक सामान्य गोपी के रूप में रानी अपनी कल्पना करे, यह भी एक क्रांतिकारी घटना है। गोपियों का समाज पदानुक्रमग्रस्त समाज नहीं था। इससे भी बड़ी बात यह कि यहाँ स्त्री एक लदा हुआ गर्भ–भर नहीं थी। उसकी कामना का विस्तार मातृत्व से इतर भी कहीं था। अपनी नॉन–प्रोडक्टिव भूमिका में भी स्त्री का प्रेम वरेण्य है, इस तथ्य को स्वीकृति देती दीखती हैं मीरां। और मुक्ति–पथ पर जो बाधा बनता है, उससे परिहासपूर्वक कहती हैं : 'तु ही मुझसे पर्दा कर ले, मैं अबला बौरानी।'

पर्दा तो उससे किया जाता है जिससे लीला करनी हो, जो अपनी टक्कर का पुरुष लगे। बाकी तो सब बाल–बुतरू हैं उनसे क्या पर्दा, उनको तो पाल–पोसकर बड़ा कर देना है बस : 'पिया मोर बालक, हम तरुनी' वाले मारक एहसास के साथ, ज्यादातर स्त्रियाँ जिसकी भुक्तभोगी होती हैं क्योंकि नैतिक/आध्यात्मिक कद–काठी में बराबर का पुरुष उनको जल्दी मिलता ही नहीं। इसी की ओर इशारा करती हुई महादेवी गुरु रविदास प्रसंग का जिक्र करती हैं।

छायावादी/गाँधीवादी मानदंडों पर और संग्रंथित स्त्रीवाद के निष्कर्ष पर खरी उतरने वाली सबसे अनूठी प्रस्तावना यही है। मीरां वरेण्य हैं अपनी अहिंसा की खातिर, विष पचा कर अमृत में बदल देने की अपनी क्षमता की खातिर, उनकी कविता में बिजली की त्वरा है क्योंकि उनमें जलतत्त्व का निषेध नहीं! जलपूरित बादलों में ही विद्युत का आवेग होता है : डॉ. श्यामनन्दन किशोर से शब्द उधार लेकर कहें तो :

आग–भरा पानी का मन है,
कौन करे सहसा विश्वास,
कैसे समझाऊँ दुनिया में
कितना महँगा है उल्लास।[15]

निष्कर्ष : स्वाधीनता–संग्राम, स्त्री–यूटोपिया और मीरांबाई

स्त्री–मुक्ति हर जगह वि–उपनिवेशन की परियोजना का एक महत्त्वपूर्ण पहलू रहा है। साम्राज्यवादी ताकतें समाज–सुधार का ताम–धाम फैलाकर अपनी छवि सुधारने की अनवरत कोशिश कर रही थीं, और 'सुधार' का ध्यान बिगाड़ की ओर जाना ही था। सबसे ज्यादा बिगड़ी हुई स्थिति थी स्त्रियों की, इसलिए उनकी स्थिति को निवेदित कई बिल पास हुए। बाल–विवाह पर अंकुश लगाने वाले शारदा ऐक्ट के अलावा भी 1829 में सती–प्रथा के खिलाफ और 1850 में विधवा–विवाह के समर्थन में बिल पारित हुए। इनसे स्थानीय नेताओं की चेतना में भी यह बात रेखांकित हुई कि स्त्रियाँ भी इंसान ही हैं, और स्त्री–शिक्षा तथा स्त्री–स्वास्थ्य पर ध्यान देना आंदोलन के लिए भी हितकर होगा। लुब्बेलुबाब यह कि अगलगी में कुत्ते को नफा हो न हो, साम्राज्यवादी और साम्राज्यविरोधी ताकतों की मुठभेड़ में स्त्रियों को स्पष्ट लाभ हुआ, जैसे कि शहरीकरण से दलितों को। स्त्रियों को कम–से–कम शिक्षा की आँख मिली–खासकर मध्यवर्ग में। शिक्षा की आँख मिल गयी तो वह मारक स्थिति भी गयी जिसके बारे में बाइबिल कहती है : सीइंग दे डोंट सी, हियरिंग दे डोंट हियर। 1920 तक गाँधीजी के मन में भी यह साफ हो गया था कि स्त्रियों के नैतिक, मनोवैज्ञानिक और व्यावहारिक सम्बल के

बिना राष्ट्रीय आंदोलन परवान चढ़ ही नहीं सकता। उनके मन में यह भी जरूर साफ होगा कि एक महानाट्य जो उन्हें चौराहों पर आयोजित करना है, उसमें स्त्रियों की बड़ी भूमिका होगी। जैसा कि हम सब समझते ही हैं, गरीबों और वंचितों के घटनाविहीन जीवन में राग–रंग पूरित नाटकीयता का एक बड़ा मंच धर्म है, शायद इसी खातिर गरीब देश जरा ज्यादा ही धार्मिक रहे हैं। धर्मप्रवण देश के राजनेता भी खूब समझते हैं कि भव्य नाटकीय/काव्यात्मक/महाकाव्यात्मक दृश्यविधानों के बिना जन–जीवन स्पंदित नहीं हो पायेगा।

गाँधीजी ने भी बुद्धिमत्तापूर्वक ऐसे कुछ नाटकीय/महाकाव्यात्मक क्षण ऐन चौराहों पर मंचित किये जिनसे जन–जीवन स्पंदित हो जाए। इस व्यूह–रचना में उन्होंने अद्‌भुत प्रतीक–योजना का सहारा लिया–नमक, चरखा, लाठी, लँगोट, ब्रह्मचर्य, वस्त्र–दहन, आभूषण–दान, अनशन–पिकेटिंग यानी कि खटवास–पटवास लेने, त्रिया–हठ ठानने की लोकप्रचलित प्रविधि–ध्यान से देखा जाए तो गाँधीवादी रणनीति के एक–एक अवयव का संबंध स्त्री–जीवन की अंतरंग दैनंदिनी से है। सविनय अवज्ञा (अवज्ञा मगर सविनय) की पूरी तकनीक ही दरअसल स्त्री–भाषा की तकनीक है। गाँधी ने सत्याग्रह की घरेलू तकनीक को बड़ा राजनीतिक वितान दिया। युगों से उपेक्षित स्त्रियों के अवचेतन पर इस काव्यात्मक प्रतीक–योजना का गहरा प्रभाव पड़ा। इस आश्वासन से वे बेहद आह्लादित हुईं कि एक बड़े अभियान में उन्हें भी शामिल किया गया है। इसका एहसास हमें उस समय के स्त्री लेखन से होता है और लोकगीतों तथा लोक–आख्यानों से भी, जिनकी रचयिता अक्सर लोरी गातीं, चरखा चलातीं, किसी घाट पर साथ मिलकर कपड़े पछीटतीं, धान कूटतीं स्त्रियाँ ही होती हैं।

उस समय की सब लेखिकाओं और लोक–गायिकाओं के मन में एक नये पुरुष की प्रतीक्षा है। पुरुष जो साथी होगा, स्वामी नहीं! महादेवी वर्मा के गीतों का चिरप्रतीक्षित पुरुष ऐसा ही पुरुष है। स्त्री–मन में उसकी कल्पना जग गयी है लेकिन हाड़–मांस ओढ़कर वह अभी तक सामने नहीं आया है। सुभद्राजी की कविता 'वीर' और 'वात्सल्य' दोनों रसों का सम्यक संतुलन नयी स्त्री में घटित करती है। 'मरदानी' का शब्द–विचलन, 'एकादशी' का राजनीतिक विनियोग और बिल्कुल नये संदर्भों में भारतीय मोटिफों का पुनर्रोपण इनकी भाषिक सजगता का उत्कट प्रमाण है। 'सुगृहिणी', 'चाँद', 'स्त्री' आदि में प्रकाशित अन्य स्त्री–रचनाकारों की भाषा, उनके तेवर, उनकी प्रश्नबहुलता, उनका व्यंग्य–विनोद भी 'कांतासम्मत' उपदेश के घेरे के बाहर जाते हैं। उन सबकी भाषा में कभी तो सविनय अवज्ञा के (संयत ढंग के) पुरमजाक तेवर का जायजा मिलता है, तो कभी मीरां के बिंदास विद्रोह की आहट भी।

ज्यादातर कृतियों में स्त्रियाँ स्वयं अपना या अन्य स्त्रियों का उद्‌बोधन करती जान पड़ती हैं और उनके चित्त में एक ऐसे राष्ट्र का सपना अँगड़ाई लेता–सा जान पड़ता है जहाँ परम्परा से रूढ़ियाँ बीन–फटक ली जाएँगी, और वर्गों–वर्णों–सम्प्रदायों के बीच, अंग्रेजों और भारतीयों के बीच और स्वयं स्त्री–पुरुष के बीच भी भेड़–भेड़िये वाला रिश्ता न होकर सम्यक मैत्री का रिश्ता होगा, उस स्तर के क्रीड़ा–कौतुक का भी, जो मीरां की काव्यभाषा के आनन्दातिरेक, उसकी प्रफुल्लता में कलकल–छलछल बहता है। एक आदर्शलोक, एक यूटोपिया और मनचीते साथी के ब्लूप्रिंट, उसकी आहट, उसके आभास के बिना भाषा का यह प्रफुल्ल आवेग सम्भव ही नहीं है : 'पायो जी मैंने राम–रतन धन पायो' के राम हों, या 'गोविंद लीनो मोल' के गोविंद, उन्हें एक खास तरह के ब्लूप्रिंट की तरह पढ़ने पर भाषा का यूरेका–तत्त्व अलग ढंग से उजागर होगा।

भारतीय परम्परा की बैटरी आधुनिकता के नये सॉकेट में रीचार्ज होने देना स्त्री–भाषा की एक बड़ी चुनौती तब भी थी और अब भी है! वर्ग–वर्ण–सम्प्रदाय और लिंगगत भेदभाव की संरचनाओं से मुक्त, पशु–पक्षी और पूरी प्रकृति के प्रति संवेदनशील जिस बृहत्तर बंधु–परिवार का स्वप्न स्त्री–साहित्य ने देखा है, उसकी भाषा–शैली भी वही प्रतिबिम्बित करती है–वहाँ भी सारे पदानुक्रम तोड़कर, दौड़कर गले मिलते हैं कॉस्मिक और कॉमनप्लेस, मैक्रो और माइक्रो, पर्सनल और पॉलिटिकल, गँवई और शहराती, लोक और शास्त्र, कल्पना और जल्पना!

सूर्योदय के पहले सूर्याभास होता है; स्पष्ट निर्णयों के तेज के पहले भाषिक अवचेतन भी सूर्योदय की लाली दर्ज कर रहा था–'बीती विभावरी, जाग री/अम्बर–पनघट में डुबो रही/तारा घट ऊषा नागरी' के विराट बिम्ब की परछाईं स्त्रियों के भाषा–जल में भी लगातार स्पंदित थी और इस स्पंदन की प्रकृति कहीं–न–कहीं तो मीरांबाई और अन्य भक्त कवयित्रियों से जुड़ती है।

जहाँ तक महादेवी का प्रश्न है, 'यह विरह भी रात का कैसा सवेरा है' आदि दो–चार कविताओं को छोड़ दें, तो कविताएँ राजनीतिक चेतना की धमक से दूर ही रखी गयीं। सारे सामाजिक सरोकार गद्य के ही हिस्से आये। भूले से भी इस कोठी का धान उस कोठी न गया। आखिर क्यों? शायद इसलिए कि सामाजिकता बहुमूल्य धन थी। बहुत परिश्रम और लम्बे इंतजार के बाद हमें जो भी मिलता है, हम उसे बचा–बचाकर खर्च करते हैं, खासकर कविता में। कविता पोस्ट ऑफिस का खाता है, लम्बी अवधि का लॉकअप उस पर होता है। उसका ब्याज हरसट्टे आपके हाथ नहीं आता और रह–रहकर आप उसमें कुछ जमा भी नहीं कर सकते। पर गद्य का खाता आवर्ती जमा खाता है तो राजनीतिक संदर्भ वहाँ बखूबी खिले। इसके अलावा 'जनाना' हरम आदि में अंग्रेजी पढ़ाने आयी मेमसाहिबों की नर्सरी राइमों के जैसे

फितना अनुवाद सड़क पर प्रचलित हुए, वे भी गौर करने लायक हैं। उनमें कहीं भी नहीं है सविनय अवज्ञा का सौष्ठव, भगतसिंह वाला क्रांतिकारी तेवर है वहाँ या फिर भ्रमरगीत वाला लौंगिया चरपरापन, जहाँ भाषा इतिहास का औजार बनती है। पर सविनय अवज्ञा के आसपास के शिष्ट स्त्री–साहित्य पर, गाँधी बाबा से वैसी ही गपशप दर्ज है जो 'कलकत्ता पर बजर गिराने' से पहले चम्पा त्रिलोचन से करती है या मिनी रवींद्रनाथ ठाकुर से। उस गपशप में भी विनय तो है, पर हलकी अवज्ञा की आहट के साथ।

जहाँ स्त्रियाँ गाँधीजी से सहमत हैं, वहाँ तो विनय है, बाकी प्रश्नबिद्ध बंकिमता है जिसे महीन अवज्ञा की श्रेणी में रख सकते हैं। भाषा में महीन अवज्ञा की सारी तकनीकें परावर्तित हैं। 'मैक्रो' और 'माइक्रो', 'पॉलिटिकल' और 'पर्सनल' के बीच तकली घुमाती हुई–सी या कहिए, क्रोशिया घुमाती हुई–सी यह भाषा है : अपना चरखा चलाती भाषा, कछारों पर अपना ही नमक बनाती हुई भाषा, 'स्त्रीपत्र' की मृणालिनी वाली भाषा, 'नष्टनीड़' की चारू ने अपने देवर, अमल की लच्छेदार, रोमानी भाषा का प्रभाव काटकर अपनी जो प्रांजल भाषा अर्जित की है स्त्रियों ने वह भाषा सहज–सरल, सुंदर और अनौपचारिक है ! धीरे–धीरे ही सही, वजूद का जकड़ा दरवाजा खुल तो रहा है। सविनय अवज्ञा के वैसे तो कई उदाहरण हो सकते हैं। बानगी के लिए एक ही उठाती हूँ श्रीमती स्नेहलता, बीए के 'विवाह समस्या' नामक लेख से :

> बहुत से मनुष्य इसे कलियुग का अंत ही समझेंगे किंतु जब विवाह–व्यवस्था का अंत हो जाए... बदमाश या गुण्डे रहेंगे ही नहीं... व्यभिचार, स्त्रैणता, विलास आदि गुण बढ़ेंगे नहीं, बल्कि बहुत कम हो जाएँगे। प्रत्येक व्यक्ति में पाचन–शक्ति भिन्न हुआ करती है, उसी के अनुसार वह अपने स्वास्थ्य का नियम बनाता है। ... (तृप्त मनुष्य ही) गूढ़ता पर विचार कर पायेगा। ... हमें गुलाब और चमेली, दोनों प्रिय हो सकते हैं। एक स्त्री के निकट एक पुरुष विद्वत्ता के कारण, दूसरा शारीरिक सौंदर्य के कारण, तीसरा आत्मा और चरित्र की पवित्रता के लिए और चौथा देशभक्ति और त्याग के लिए प्रशंसनीय हो सकता है। एक संकीर्ण घेरे में बाँधने से प्रेम का गला घुटता है।[16]

सधे हुए क्रोध का सर्जनात्मक उपयोग आये दिन स्त्रियाँ करती रहती हैं करवट बदलकर, खाना–पीना छोड़कर... उसी तरह का 'पैसिव प्रतिकार' गाँधीवाद है जिसकी वकालत पश्चिम में थोरो, तॉल्सतॉय या यॉस्नाया पोलियाना ने की थी। गाँधी का महत्त्वपूर्ण योगदान यह है कि बड़े राजनीतिक फलक पर उन्होंने यह कर दिखाया और इसको दिखाने में स्त्री–शक्ति का स्पष्ट आह्वान किया। इतने व्यावहारिक वे थे कि स्पष्ट देख पाते कि जिस तरह का आत्मबल त्याग–तपस्या से पैदा होता है, स्त्रियों के पास उसका स्रोत अक्षुण्ण है।

किताबें तो गाँधी ने चार ही लिखीं, बाकी नन्ही सलाहें, उपदेश और अभिमत हैं–पत्रों–प्रश्नों के जवाब! सार्वजनिक चिंतन की बहुतेरी विसंगतियाँ वहाँ हैं, पर उनका रेंज, आत्मीयता और चुटीलापन वही है जो कांतासम्मत उपदेशों की अभ्यस्त महिला–समाज की 'टॉक स्टोरीज' का होता है। खान–पान के संयम से लेकर बड़े राजनीतिक मसविदे तक, कुछ भी वे उसी सहजता से बाँच जाते हैं जिससे स्त्रियाँ दैनंदिन कलाप बाँचती हैं। बात शुरू होती है मैक्रो प्रसंग से और टेलिस्कोपन तकनीक से छोटी होती–होती अंतरंग मशविरे का रूप ले लेती हैं। कभी–कभी इसका उलटा भी होता है, पर कुल मिलाकर पदानुक्रम टूटता जरूर है मैक्रो–माइक्रो, सार्वजनिक और निजी के बीच का।

स्वराज और सर्वोदय गाँधी के लक्ष्य थे, सत्य–अहिंसा सादगी और श्रम की गरिमा उनके मूल सिद्धांत, भूदान, नयी तालीम और गृह–उद्योग उनके साधन। प्रतिपक्षी की आँखें खोलने में भाविक ऊर्जा या तर्कमयता का इस्तेमाल तो होगा ही, नाटकीय वैभव और चुटीलापन भी होगा, होगा स्त्री की भाषा वाला चुटीलापन, त्रियाहठ और बालहठ का अनुपम संयोग, बाँकी–सी जिद यह स्थापित करने की कि प्रयोग सिर्फ वैज्ञानिक ही नहीं करते, सत्यान्वेषी भी करते हैं, सत्य सिर्फ वस्तुनिष्ठ नहीं होता, आत्मनिष्ठ भी होता है। 'अहिंसा' के विज्ञान का प्रसार सत्य करेगा–सत्य जो प्रत्येक व्यक्ति अपने ढंग से अर्जित करेगा, जैसे प्रयोगशाला में हर व्यक्ति अपना प्रयोग अलग करता है। किसी मनोवैज्ञानिक युद्ध में तथ्य को तोड़–मरोड़कर पेश करने की प्रवृत्ति तो होती है। इस प्रवृत्ति से बचना है। जीतना है लेकिन विकृत साधनों से नहीं, उन्हीं साधनों से जो गरीब से गरीब व्यक्ति के पास होते हैं, हो सकते हैं अर्थात स्वाभिमान और गरिमा। एक दमनचक्र का जवाब दूसरे दमनचक्र से नहीं देना, टी. वॉशिंगटन की बात हमेशा याद रखनी है : *लेट नो मैन पुल यू सो लो एज टु मेक यू हेट हिम*। (किसी को यह छूट मत दो : कोई तुम्हें इतना नीचा न गिराए कि तुम उससे नफरत करने लगो) अक्षुण्ण प्रेम का यह मनोभाव भी उन्हें स्त्री–पक्ष से जोड़ता है, और बात को बार–बार अपने अनुभवों की ओर मोड़ने की प्रवृत्ति गांधी को उनसे जोड़ती है :

''अनुभव से मैं जानता हूँ कि निरंकुशता द्वारा दिया गया आज्ञा–पालन का आदेश कितना भयावह होता है। अपने आप में दुष्टता जितनी भयावह होती है, उससे भी ज्यादा भयावह है यह।[17]

असली तालीम तो स्कूल खत्म होने के बाद शुरू होती है। अपना सबसे बड़ा अध्यापक व्यक्ति स्वयं होता है। सबसे बड़ा विद्यालय तो अनुभव ही है।[18]

हाड़–मांस की गुड़िया के ऊपर भी स्त्री कुछ है–विश्वसखा, विश्वभागिनीय 'प्रोडक्शन' और 'रीप्रोडक्शन' के ऊपर भी उसकी बड़ी भूमिका है। आत्मबल पशुबल से कई गुणा बड़ा है, यह बात उस वक्त के लिए बड़ी थी। दर्शन को निरी बौद्धिकता की कारा से आजाद करके राजनीति को दर्शन का पुट दिया और नैतिक विकास का श्रेय दिया स्त्री–शक्ति को। यही गाँधी का योगदान है। लेकिन जैसा कि तनिका सरकार, मधु किश्वर आदि के आलेख सिद्ध करते हैं, उस समय के स्त्री–विषयक चिंतन में कुछ अंतर्विरोध भी थे, और मेरी अपनी मान्यता यह है कि यही अंतर्विरोध था जो स्त्री–भाषा सविनय अवज्ञा के साथ उद्घाटित किये जा रही थी।

संदर्भग्रंथ:

- तैत्तरीय संहिता, ऋग्वेद, मोतीराम बनारसीदास
- वोल्गा, 'विमुक्त', साहित्य अकादेमी, 2015
- अम्बई, 'द डियर एण्ड द फॉरेस्ट', पेंग्विन, 2013
- केसरी सुमन, याज्ञवल्क्य से बहस, राजकमल , 2018
- अनामिका, टोकरी में दिगन्त, राजकमल, 2015
- ईगल्टन टेरी, होली टेरर, ओयूपी, 2005
- आण्डाल, नवीं शताब्दी की तमिल वैष्णव संत एक पुजारी की पोषिता थीं! मन्दिर में ही पली–बढ़ी अण्डाल बचपन से स्वयं को विष्णु की बहू कहती थीं! विष्णुचर्या में लिप्त उनके पद ऐन्द्रिक, प्राकृतिक बिम्बों का खजाना हैं! इनकी दो लम्बी कविताएं बारहमासों के रूप में पढ़ी जाती रही हैं! बहुतेरे नृत्यगीतों का मंचन भी उत्कट हुआ है! (अण्डाल ऐण्ड अक्का महादेवी : फेमिनिटी टू डिविनिटी, अलका त्यागी, डीके प्रिंट वर्ल्ड), दिल्ली।
- महादेवी अक्का–बारहवीं शताब्दी की वीरशैव सन्त के बारे में कथा प्रचलित है कि इनके रूप से विमुग्ध राजा ने जबर्दस्ती इनसे शादी तो कर ली, पर समागम के लिए तैयार न पाकर इन्हें महल छोड़ जाने की धमकी भी दे दी! ये निर्विकार भाव से सब छोड़कर महल से निकल ही रही थीं कि उसने ताना दिया कि कपड़े तो उसने उसके ही पहन रखे हैं! इस ताने का जवाब उन्होंने ऐसे दिया कि कपड़ों से बाहर आ गयीं और तब कहते हैं कि दैवयोग से उनके बाल ही द्रौपदी की साड़ी–की तरफ अगाध हो गए और उनकी लाज ढंक ली इसी तरह!

❐ रामी–स्त्री भक्त कवियों में चण्डीदास की दलित प्रेमिका, रामी का नाम भी उल्लेखनीय है जिनकी परम्परा में बंगाल की अन्य भक्त कवयित्रियों की पूरी श्रेणी है–रसमयी देवी, दुःखिनी, इन्दु मुर नी, शिव–चरी, महादेवी दास आदि। गौड़ीय वैष्णव स्कूल की यह स्त्री–कविता घर–गृहस्थी के बोझ से दबी स्त्रियों में पनपे राधा–भाव को प्रतिष्ठा देती है!

चण्डीदास बशुली देवी के जिस मन्दिर में अपने रागात्मिका पद रच रहे थे, उसी के पास के धोबी–घाट पर कपड़े धोती हुई ये कब उनमें अपना कृष्ण देखने लगी, और कब चण्डीदास के मन में भी उसके लिए प्रेम की धारा उमड़ पड़ी–इसका पूरा विवरण तांत्रिक बौद्धमत (सहय्या) से प्रभावित, गौड़ीय वैष्णव मत के अनुयायी देते हैं और इनके जीवन में अंतरंग विवरण इन दोनों प्रेमियों की कविता में साफ झलकते हैं। सहय्या दर्शन ऊंच–नीच की सारी संरचनाएं ढाहता हुआ, राधाकृष्ण वाली एकात्मकता पूरे जीव–जगत से महसूस करने वाला अद्वैत दर्शन है।

परिवार के दबाव में जब चण्डीदास ने प्रयाश्चित–यज्ञ किया तो रामी की कविता उसी आर्न्तनाद के रूप में फूटीं जो मथुरा प्रयाण कर गये कृष्ण के लिए राधा के मन में फूटी होगी–

कहां चले, प्राणाधार, ऐसे मुंह मोड़कर!
फटता है मेरा कलेजा यह मिष्टीमुख देखे बिना!
तेरह बरस की उमर से
यह तन–मन
जानता है बस तुम्हें!
क्यों मुझको छोड़ चले मथुरा?

बाद में जब चण्डीदास के प्रेम में बंगाल के सुल्तान की बेगम पड़ गयीं, चण्डीदास को हाथी की पीठ से बंधवाकर सुल्तान ने कोड़ों की इतनी मार लगाई कि रामी की ओर कातर दृष्टि से देखते हुए वे सिधार ही गये! रामी भी इस दृश्य पर ऐसी बेहोश हुई कि फिर उठी ही नहीं! यह पूरा करुण प्रसंग तमाम तरह के मिश्र–भावों के साथ रामी ने जैसे अपनी कविता में ढाला है, वह गहरे विश्लेषण की मांग करता है। अन्तिम बंद में वे बेगम को भी सखी–भाव से माफ करती हुई सीधा राजा को दुत्कारती है। यह रामी नैतिक साहस का प्रत्यक्ष प्रमाण है! (द राधाज ऑफ मेडीवल बंगाल : फिफ्टीन्थ ऐण्ड सिक्टीन्थ सेन्चुरी विमन पोएट्स, सुमन्ता बैनर्जी, इण्डिया इण्टरनैशल क्वार्टरली, वोल्यूम–21, नं.4 (विण्टर–19941⁄2 27–40 के आधार पर उत्कीर्ण)।

❐ लल्लदेद–चौदहवीं शताब्दी की कश्मीरी शैव संत लल्लदेद भी एक कठिन गृहस्थी से उबरकर, पति और सास की मार–पीट से उबरकर निर्वस्त्र ही जंगलों में घूमकर वचन गाती रहीं जिनमें भींगे चीनारों की अनूठी है गंध और एक सूफियाना मस्ती भी :

मेरे गुरु ने मेरे आंखों का रथ मोड़ा,
बाहर से भीतर, भीतर और भीतर–
भीतर जो दीखा, उसे देकर झम–झम नाचा ये मन!

❐ मुक्ताबाई–तेरहवीं शताब्दी के मराठी संत ज्ञानेश्वर के अनाथ भाई–बहनों में सबसे छोटी मुक्ताबाई ज्ञानमार्गी नामदेव की ऐसी शिष्या थीं जिन्होंने कूटगीत और जटिल अभंग लिखे–दीए और प्रकाश जैसा रूप और गुण का सम्बन्ध बताने वाली मुक्ताबाई नाथयोगी चारंग देव से भी दीक्षित हुईं और दोनों के बीच के शास्त्रार्थ गूढ़ चर्चा का विषय रहे! उनकी केन्द्रीय मान्यता यह थी कि सुराही के पानी में पड़कर भी जैसे सूर्य का प्रकाश उससे लिप्त नहीं होता, शरीर में आत्मा भी निर्लिप्त रह सकती है। फ्रॉम फ्रीडम टू सैल्वेशन, सुहासिनी इरेकर, 92 साहित्य अकादेमी।

❐ बहिनाबाई–सत्रहवीं शताब्दी की यह मराठी भक्त कवि कठिन गृहस्थी और कठोर पति के हजार झमेलों में बंधी रहकर भी मानसिक मुक्ति का उपाय साध गयीं–पति को बालभाव में अपनाकर उसे तरह–तरह के खिलौने पकड़ाती हुई–ऊंचे आसन का खिलौना, मान–सम्मान का खिलौना! शुरू–शुरू में अपनी नन्हीं बछिया में मगन रहतीं, फिर जयराम जैसे संतों की सत्संग–सभा में। जब उनकी आह्लादपूर्ण भक्ति को विशेष मान मिलने लगा और स्वप्न में संत तुकाराम उन्हें दीक्षा भी दे गये तो पति का ईर्ष्या भाव जगा! तरह–तरह की प्रताड़ना सहने के बाद भी घर–गृहस्थी या पातिव्रत्य धर्म का निर्वाह वे साधक–भाव से करती रहीं, पर देह में या घर में होती हुई भी वे वहां नहीं होतीं, उनका मन अपने बिट्ठल के पास ही टंगा रहता–इसका प्रमाण हैं इनके बहुवर्णी पद जिनमें पति और परमपति–दोनों का स्वीकार है।

(बहिनाबाई : वाइफ ऐण्ड सेण्ट, अब ऐन फेल्धाउस, जनरल ऑफ द अमेरिकन अकेडेमी ऑफ रेलिजन, वॉल्यूम 50, नं. 4, दिसम्बर, 82, पृ.–591–604)।

❐ अरुण चतुर्वेदी (सम्पा.) (2006), *मीरां : एक मूल्यांकन,* श्याम प्रकाशन, जयपुर।

❐ एमिली डिकिंसन (1970), *एक्ट्स ऑफ लाइट,* नैंसी ई. बर्कर्ट और जेन लैंग्स्टन (सम्पा.), न्यूयॉर्क ग्राफिक सोसाइटी।

- कुमकुम संगारी (2012), *मीरांबाई और भक्ति की आध्यात्मिक अर्थनीति,* अंग्रेजी से अनुवाद : अनुपमा गुप्ता, वाणी प्रकाशन, दिल्ली।
- जे. बर्नहार्ट (1999), 'द इनक्यूरेबिली रिलीजस एनिमल', एमाइल साहलियेह (सम्पा.), *रिलीजस रिसर्जेंस ऐंड पॉलिटिक्स इन द कंटेक्वपरेरी वर्ल्ड,* एलबेनिस युनिवर्सिटी, न्यूयार्क।
- पुष्पा भावे (सम्पा.) (1988), *गाँधी ऑन वुमॅन,* नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद।
- भरत सिंह उपाध्याय (2010), *थेरी गाथा,* गौतम बुक सेंटर, दिल्ली।
- महादेवी वर्मा द्वारा मीरां–जन्मशताब्दी पर राजस्थान में दिये गये भाषण शृंखला के अंश। अनामिका (सम्पा.) (प्रकाशनाधीन)।
- मिक्वायर बारब्रे और हैली हौमटेन विजं (1975), 'अ रिचअुल सेलिब्रेशन', वुमॅन स्क्रिप्वट 2, अंक 5, हेमंत, इजुइनॉक्स।
- मुकुंद लाठ द्वारा पल्लव के साथ हुई बातचीत (जयपुर, 2002) में उद्धृत।
- रेचल ऐल्स, ऐनेटे फिट्साइमंस और कैथलीन लेनन (2002), *थियराइजिंग मेन ऐंड मैस्कुलिनिटीज,* पॉलिटी प्रेस, कैम्ब्रिज।
- श्यामनन्दन किशोर (2012), *तुम खुले नयन के सपने हो,* प्रकाशन संस्थान, दिल्ली।
- श्रीमती स्नेहलता, बीए (1932), 'विवाह समस्या', *चाँद,* विदुषी अंक, महादेवी वर्मा (सम्पा.), खण्ड 2, वर्ष 14।
- हीड केंड (1964), *केंटरबरी टेल्स,* बेंटम बुक्स, यूके।

एंड नोट्स

1. जे. बर्नहार्ट (1999), 'द इनक्यूरेबिली रिलीजस एनिमल', एमाइल साहलियेह (सम्पा.), *रिलीजस रिसर्जेंस ऐंड पॉलिटिक्स इन द कंटेम्परेरी वर्ल्ड,* एलबेनिस युनिवर्सिटी, न्यूयॉर्क।
2. रेचल ऐल्स, ऐनेटे फिट्साइमंस और कैथलीन लेनन (2002), *थियराइजिंग मेन ऐंड मैस्कुलिनिटीज,* पॉलिटी प्रेस, कैम्ब्रिज।
3. मिक्वायर बारब्रे और हैली हौमटेन विजं (1975), 'अ रिचअुल सेलिब्रगशन', *वुमॅन स्क्रिप्ट 2,* अंक 5, हेमंत, इजुइनॉक्स : 27।

4. कुमकुम संगारी (2012), *मीराबाई और भक्ति की आध्यात्मिक अर्थनीति,* अंग्रेजी से अनुवाद : अनुपमा गुप्ता, वाणी प्रकाशन, दिल्ली : 63।
5. भरत सिंह उपाध्याय (2010), *थेरी गाथा,* गौतम बुक सेंटर, दिल्ली : 15।
6. हीड केंड (1964), *केंटरबरी टेल्स,* बेंटम बुक्स, यूके : 64।
7. वही।
8. एमिली डिकिंसन (1970), *एक्ट्स ऑफ लाइट,* नैंसी बर्कर्ट और जेन लैंग्स्टन (सम्पा.), न्यूयार्क ग्राफिक सोसाइटी : 100।
9. अरुण चतुर्वेदी (सम्पा.) (2006), *मीरां : एक मूल्यांकन,* श्याम प्रकाशन, जयपुर : 238।
10. मुकुंद लाठ द्वारा पल्लव के साथ हुई बातचीत (जयपुर, 2002) में उद्धृत।
11. अरुण चतुर्वेदी (सम्पा.) (2006) : 242।
12. एमिली डिकिंसन (1970) : 49।
13. अरुण चतुर्वेदी (सम्पा.) (2006): 244।
14. महादेवी वर्मा द्वारा मीरां–जन्मशताब्दी पर राजस्थान में दिये गये भाषण श्रृंखला के अंश। अनामिका (सम्पा.) (प्रकाशनाधीन)।
15. श्यामनन्दन किशोर (2012), *तुम खुले नयन के सपने हो,* प्रकाशन संस्थान, दिल्ली : 17।
16. श्रीमती स्नेहलता, बीए (1932), 'विवाह समस्या', *चाँद,* विदुषी अंक, महादेवी वर्मा (सम्पा.), खण्ड 2, वर्ष 14।
17. पुष्पा भावे (सम्पा.) (1988), *गाँधी ऑन वुमॅन,* नवजीवन पलिशिंग हाउस, अहमदाबाद : 42।
18. वही : 16।